मासिक समाचार पत्र • वर्ष 1 अंक 9
अक्टूबर 1999 • तीन रुपये • बारह पृष्ठ

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

वाजपेयी सरकार का नया एजेण्डा क्या है?

—हर हाल में, हर कीमत पर, जल्दी से जल्दी उदारीकरण मुहिम को उसके आखिरी मुकाम तक पहुंचाना

सम्पादकीय अग्रलेख

सत्तासीन होते ही वाजपेयी सरकार ने एक नया और जबर्दस्त युद्ध छेड़ दिया है। यह युद्ध सीमा पर नहीं बल्कि देश के भीतर लड़ा जा रहा है। देश के भीतर, इस युद्ध का निशाना (बाबरी मस्जिद के बाद) न तो मथुरा की ईदगाह है और न ही वाराणसी के विश्वनाथ मंदिर से सटी मस्जिद। यह एक एकदम अलग किस्म का युद्ध है।

इस ''युद्ध'' में सरकार का निशाना सीधे जनता के पेट पर है, उसके रोजी-रोटी के अधिकार पर, यहां तक कि सीधे उसके जीने के अधिकार तक पर है। यह आर्थिक युद्ध है जो व्यापक मेहनतकश आबादी और नौकरीपेशा आम मध्यवर्ग के खिलाफ उदारीकरण-निजीकरण के ''दूसरे दौर'' के नाम से छेड़ा गया है और देखते ही देखते धुंआधार रूप ले चुका है। यह युद्ध ''सभी युद्धों की मां'' है, चाहे वह अंधराष्ट्रवादी नारे देकर सीमा पर छेड़ा गया युद्ध हो या साम्प्रदायिक जुनून भड़काकर सड़कों पर छेड़ा गया दंगाई ''युद्ध'' या पादरी स्टेन्स की हत्या जैसा ''छापामार युद्ध!'' भाजपाई फासिस्टों ने दूसरे सभी ''युद्ध'' इसी असली ''युद्ध'' के लिए लड़े। लम्बी कोशिशों के बाद उन्हें इस फैसलाकुन ''युद्ध'' का सेनापतित्व मिला है। अपने जम्बो मंत्रिमंडल के सहयोगियों की अगुवाई में अर्थशास्त्रियों, योजना आयोग-श्रम आयोग-वित्त आयोग-विनिवेश आयोग तथा विभिन्न कमेटियों के अनुभवी धुरंधरों, नौकरशाहों और सलाहकारों के ''स्टॉर्मट्रूपर्स'' दस्ते सजाकर एक के बाद एक धुंआधार फैसले लेते हुए वाजपेयी सरकार ने सत्तासीन होते ही व्यापक आम जनता पर वैसा ही तड़ित-प्रहार किया

वाजपेयी सरकार ने उदारीकरण-निजीकरण के ''नये दौर'' के नाम पर जनता के खिलाफ एक जबर्दस्त युद्ध छेड़ा है—एक आर्थिक युद्ध जिसमें नीतियों-फैसलों के द्वारा निशाना जनता के पेट को बनाया गया है, रोजी-रोटी के अधिकार को बनाया गया है!

है, जैसी कार्रवाई हिटलर के नात्सी फौजी दस्ते युद्ध के मैदान में करते थे और जिसे ''ब्लिट्जक्रीग'' नाम से जाना जाता था। पूंजीवादी मीडिया इस युद्ध में तुरही-नगाड़े बजाने का काम कर रहा है और सत्ता के बौद्धिक चाकर कारपोरेट बोर्ड में बैठे महामहिमों के सामने युद्ध का वृतांत और विवेचना पेश कर रहे हैं, जैसा धृतराष्ट्र के लिए संजय कर रहे थे।

संसद में बैठने वाले सभी विपक्षी दल संसद में बहसबाजी का चाहे जितना नाटक करें; खुद के सत्तासीन न होने का उन्हें चाहे जितना भी मलाल हो; जनता के विरुद्ध छेड़े गये उदारीकरण-निजीकरण के आर्थिक युद्ध में वे पूरी तरह सरकार के साथ हैं। यह युद्ध उनकी आम सहमति पर आधारित है। संसदीय विपक्षी दलों को यदि मलाल है तो बस यह कि इस युद्ध का फैसलाकुन दौर उनके सेनापतित्व में नहीं लड़ा जा रहा है।

यूं तो इस युद्ध की शुरुआत '**कम तीव्रता वाले युद्ध**' ('लो इण्टेसिटी वार') के रूप में 1991 में नरसिंह राव की सरकार ने ही की थी। देवेगौड़ा और गुजराल की चुनावी वामपंथियों द्वारा समर्थित मरगिल्ली सरकारों ने भी उसे उसी रूप में जारी रखा, क्योंकि चुनावी राजनीति के तकाजे और नाममात्र के तथा गैरभरोसेमन्द बहुमत की मजबूरी उनके पांवों की बेड़ी बनी रही।

उधर **फिक्की, एसोचैम** और **सी. आई.आई.** (भारतीय पूंजीपतियों की संस्थाएं) के मंत्रणाकक्षों और सभागृहों में बैठे महामहिम गण पहलू बदल रहे थे और न्यूयॉर्क, बर्लिन, टोक्यो, लन्दन और पेरिस में बैठे महामहिमों के महामहिमों का धीरज भी चुकता जा रहा था। वे उकता रहे थे, झुंझला रहे थे और धमका रहे थे। ऐसे आर्थिक युद्धों के विशेष सामरिक सलाहकारों के रूप में अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक, और

मतदान के बाद जनता का काम खतम ! अब साम्राज्यवादी ताकतें और पूंजीपतियों की संस्थाएं सरकार को बता रही हैं कि उसे क्या करना है!

विश्व व्यापार संगठन जैसी एजेंसियों की टीमें और विशेषज्ञ लगातार दौरे कर रहे थे और आवश्यक निर्देश दे रहे थे। और वे ऐसा भला क्यों न करें? पूंजी के भूमण्डलीकरण के लोकविनाशी अश्वमेध यज्ञ के लिए एक अरब आबादी वाले भारत पर विजय से अधिक महत्वपूर्ण भला और क्या हो सकता था? ''सेनापति'' अटल बिहारी वाजपेयी और उनके ''कमाण्डिंग स्टाफ'' के लोग जान लड़ाकर कोशिश कर रहे हैं कि वे देशी महामहिमों और इन महामहिमों के महामहिमों—विश्व पूंजीवादी तंत्र के शीर्षस्थ युद्ध सरदारों की अपेक्षाओं की कसौटी पर खरे उतर सकें, चाहे इसके लिए जिस किसी भी हद तक जाना क्यों न पड़े!

❑

सरकार पूंजीपतियों की 'मैनेजिंग कमेटी' है, यह सच्चाई अब ढंकी-छुपी नहीं रही!

यूं तो ज्यादा से ज्यादा ''लोकतांत्रिक'' पूंजीवादी लोकतंत्र में भी तथाकथित तौर पर जनता द्वारा ''चुनी गई'' सरकारें, हर-हमेशा महज पूंजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी की ही भूमिका निभाती रही हैं, पर ज्यादातर, संकट के विस्फोट के दिनों को छोड़कर, इस असलियत पर बहुत सारे विभ्रमकारी परदे पड़े रहते रहे हैं। **उदारीकरण-निजीकरण के मौजूदा विश्वव्यापी दौर में पूंजीवादी लोकतंत्र के तमाम ढकोसलों के तार-तार होने के साथ ही, यह असलियत भी एकदम नंगी होकर पूंजीवादी अखबारों के पन्नों तक पर उतरा आई है कि यह सरकार सीधे-सीधे पूंजीपतियों की 'मैनेजिंग कमेटी' के रूप में काम कर रही है।**

वाजपेयी सरकार के सत्तारूढ़ होने के पन्द्रह दिनों के भीतर कम से कम एक दर्जन ऐसे समाचार अखबारों में

(पेज 8 पर जारी)

चीनी क्रान्ति की पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर

बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता

पृष्ठ 5 से 7

तराई क्षेत्र की बहुराष्ट्रीय कम्पनी होण्डा पावर प्रोडक्ट्स में तालाबंदी

(बिगुल प्रतिनिधि)

रुद्रपुर (ऊधमसिंह नगर), 16 अक्टूबर। जिस बात की आशंका व्यक्त की जा रही थी, हुआ वही। प्रबंधकों ने एक साजिश के तहत तराई क्षेत्र की जापानी कम्पनी 'होण्डा पावर प्रोडक्ट्स' (पहले श्रीराम होण्डा) में पिछले 14 अक्टूबर को तालाबंदी घोषित कर दी। पूरी नहीं, आंशिक तालाबंदी। जिसके तहत आपातकालीन सेवा के चार मजदूरों को छोड़कर सभी मजदूरों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। साथ ही, मजदूरों के विगत लगभग तीन माह से चल रहे शान्तिपूर्ण आन्दोलन को अवैध करार देते हुए प्रबन्धकों ने कारखाना परिसर से 200 मीटर की परिधि में उनके किसी भी प्रकार के धरना-प्रदर्शन-सभा को रोकने के लिए न्यायालय से अग्रिम स्थगनादेश प्राप्त कर लिया है।

इसके पूर्व, आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभा रहे लगभग 150 दैनिक वेतनभोगी और प्रशिक्षु मजदूरों को उनके कार्यों से विरक्त किया जा चुका था। 'श्रीराम होण्डा श्रमिक संगठन' के अध्यक्ष आर.एस. रावत का निलम्बन और संयुक्त मंत्री रामचन्द्र शर्मा तथा विनोद प्रजापति एवं मनोज गुप्ता पर झूठे आरोप मढ़ते हुए निष्कासन की कार्रवाई करके प्रबंध तंत्र अपनी कुत्सित नीति पहले ही उजागर कर चुका है। यूनियन पदाधिकारियों पर गुपचुप तरीके से कोतवाली में फर्जी प्राथमिकी दर्ज कराई गयी है। कार्यकारिणी के सभी 15 सदस्यों सहित 21 मजदूरों पर कारखाने के एक जापानी निदेशक की ओर से जिला न्यायालय में मुकदमा भी कायम करवा दिया गया है। और कारखाने की पूरी मजदूर आबादी को अराजक तत्व घोषित कर दिया गया है।

दूसरी तरफ, प्रबंधकों के अड़ियल रुख और जिला प्रशासन एवं श्रम विभाग की अकर्मण्यता के कारण उपश्रमायुक्त

(पेज 3 पर जारी)

आपस की बात

जनता को जाहिल और कामचोर मानने वाले "क्रान्तिकारी" बुद्धिजीवी

हमें लगता है जिन्दगी से कटे हुए जिन "वामपंथी" बुद्धिजीवियों ने बहुत मार्क्सवाद पढ़ लिया है, वे भी क्रान्ति की एक समस्या बन गये हैं।

ये तमाम "विद्वान" लोग अपनी मार्क्सवाद की पढ़ाई के आधार पर पूंजीवाद के संकट को तो समझ-समझा लेते हैं; इतिहास की जानकारी के आधार पर वे यह भी कह लेते हैं कि क्रान्तियां होंगी और यह कि पूंजीवाद अमर नहीं है; लेकिन क्रान्ति के काम को "जाहिल-जपाट" जनता ही अंजाम देती है—इस बात को वे चाहकर भी गले के नीचे नहीं उतार पाते।

अभी गत दिनों '**फिलहाल**' के 1-16 अगस्त '99 के अंक में **प्रधान हरिशंकर प्रसाद** का एक लेख पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसमें "स्वदेशी" के नारे के पाखण्ड को उजागर करने के साथ ही उन्होंने संविधान और प्रशासकीय तंत्र की असलियत सामने लाने का काम बखूबी किया है, लेकिन जनता के बारे में प्रधान जी के खयालात इस किस्म के हैं — "**भारत की अधिकांश जनता यहां तक कि पढ़े-लिखे लोगों में भी अधिकांश जाहिल हैं। इनके नेता भी जाहिल होंगे क्योंकि वे भी इन्हीं के बीच से आते हैं।**"

कितनी हिकारत छिपी हुई है इन शब्दों में?

प्रधान जी **ए.एन.सिन्हा इंस्टीट्यूट, पटना** के डायरेक्टर रह चुके हैं और विद्वान मार्क्सवादी हैं। लेकिन जनता की समझ और जनता में भरोसा के बारे में यदि वे माओ से थोड़ा भी सीख पाते तो "भवसागर तैर जाते।"

प्रधान जी, जनता उत्पादन और जिन्दगी को किताबी कीड़ों से ज्यादा समझती है। हां, वह बुर्जुआ समाज में ज्ञान-सम्पदा से वंचित रहती है और चूंकि ज्ञान पर भी बुर्जुआ इजारेदारी कायम रहती है, इसलिए विचारधारा व क्रान्ति के विज्ञान से अपरिचित रहती है। मजदूरों के आन्दोलन में विचारधारा को ले जाने का काम, ऐतिहासिक तौर पर, वे थोड़े से क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी करते हैं जो अपने को सत्ताधर्म से काटकर जनता से जुड़ते हैं। वे जनता को जाहिल नहीं, अपना शिक्षक समझते हैं और तब, कुछ संदर्भों में जनता के शिक्षक की भूमिका भी निभाते हैं। प्रोफेसरी अध्ययन कक्षों से चाहे जितनी नसीहतें दे ली जायें, जनता को चाहे जितना कोस लिया जाये, क्रान्ति का कुछ भी भला नहीं होने वाला!

हमारे परिचित एक और प्रोफेसर साहब थे, राज्यसत्ता से तो नहीं पर पत्नी से काफी डरते थे। जब भी मिलो, शिकायत करते थे कि हम लोग मन से और बुद्धिमत्ता से क्रान्ति का काम नहीं कर रहे हैं... वगैरह-वगैरह। भटकाव ढूंढ़ना उनका मुख्य काम था, शिकायतें करना उनकी आदत थी, भुनभुनाना-पिनपिनाना उनके संस्कार थे। एक दिन पब्लिक सेक्टर उपक्रमों और निजी क्षेत्र के बड़े उपक्रमों के स्थायी मजदूरों की सफेदपोश मानसिकता, अर्थवादी सोच और उनमें काम करने की समस्याओं पर बातें हो रही थी। अचानक प्रोफेसर साहब भड़क उठे और तड़क उठे, "अरे, ये सभी कामचोर हो चुके हैं, पक्के चोट्टे! जो अपनी ड्यूटी ही नहीं निभाता, वह क्रान्ति की बातें क्या समझेगा?"

मुझसे रहा नहीं गया। मैंने कहा, "प्रोफेसर साहब, आप तो मुस्तैदी से अपनी ड्यूटी निभाते हो। आप ही क्रान्ति का हिरावल बन जाओ! आपके पास तो समय भी काफी है! रोज तीन-चार घण्टे पढ़ाते हो। साल भर में बमुश्किल तमाम छः महीने। उसके लिए हर माह 25-30 हजार रुपये मिल जाते हैं। और यही न आपकी ड्यूटी है कि सत्ता के बौद्धिक चाकर तैयार करते हो, जो हम मजदूरों पर सवारी गांठते हैं! रहा सवाल मजदूर का, तो यह सही है कि वह समाज के लिए उत्पादन का काम करता है, पर वह मन से क्यों करे? वह जानता है कि उसे बदले में क्या मिलने वाला है! जो अस्थायी या ठेका मजदूर अस्तित्व का संकट झेलता है, वह भूखों मरने के डर से जान लड़ाकर, गुलाम की तरह काम करता है। पर जिसकी नौकरी स्थायी है, वह क्यों मुस्तैदी से उत्पादन करे? अमीरों की तिजोरियां भरने के लिए? हां, यह सही है कि पब्लिक सेक्टर और निजी बड़े कारखाने के ऐसे ही मजदूर अर्थवादी राजनीति के प्रभाव में हैं और इनका एक हिस्सा मध्यवर्ग बन चुका है। इस समस्या को लम्बे क्रान्तिकारी प्रचार के द्वारा हल करना होगा। दूसरे, जब सर्वहारा वर्ग के अन्य हिस्से आगे बढ़ेंगे तो मजदूरों के अपेक्षाकृत बेहतर जीवनस्थिति वाले हिस्से भी जागेंगे। और तीसरी बात यह कि अपेक्षाकृत बेहतर वेतन और स्थायी नौकरी वाले मजदूरों की आबादी लगातार घटती जा रही है। जिसे आप मजदूर की कामचोरी कहते हैं, वह एक पिछड़ी चेतना के मजदूर का व्यवस्था के प्रति "अचेतन विद्रोह" भी हो सकता है और अपने दूसरे भाइयों से "बेहतर" स्थिति में होने के अहसास से पैदा हुई मध्यमवर्गीय निश्चिन्तता व कामचोरी का भटकाव भी। फिर भी वह मजदूर किसी न किसी रूप में उत्पादन से जुड़ा है। असली कामचोर तो वे अनुत्पादक बुद्धिजीवी हैं, जो ज्ञान देने की चाहे जितनी भी ड्यूटी निभायें, उनका दिया ज्ञान समाज के किसी काम नहीं आता। आप उनको गाली नहीं देते, उनकी वर्ग-स्थिति की व्याख्या करके चुप लगा जाते हैं। पर जब मजदूर कहीं "हुक्मउदूली" करता दीखता है तो आप एकदम भड़क उठते हैं।"

भरसक ठण्डे दिमाग से ही मैंने अपनी बातें कहीं, पर प्रोफेसर साहब का पारा चढ़ता गया। उसके बाद वे रूठ गये। उन्होंने कहा, "आपका अखबार मेरे काम का नहीं। ये बातें तो मैं जानता ही हूं। वैसे भी ये मजदूरों के लिए है।"

कभी उन्होंने खुद ही बड़ी दिलचस्पी से 'बिगुल' मांगा था। कहते थे कि युनिवर्सिटी के 'क्लास फोर' कर्मचारियों को दूंगा। अब नहीं लेते। राजनीतिक कार्यकर्ताओं का उनके वहां आना-जाना कम हो गया। इससे उनके घर में भी अब शान्ति रहती है।

—आदेश कुमार सिंह
रेल मजदूर अधिकार मोर्चा
गोरखपुर

बिगुल के पाठकों के लिए सूचना

बिगुल के अगस्त 1999 अंक में **भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन की समस्याएं : एक बहस** शीर्षक से प्रकाशित **अनादि चरण** के लेख की पहली किश्त के आगे की कड़ी अपरिहार्य कारणों से पिछले दो अंकों में नहीं प्रकाशित हो पायी है। अगले अंक में यह प्रकाशित होगी।

◆

चीनी क्रान्ति की पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर अगले अंक से हम बिगुल में चीन की सचित्र क्रान्तिकथा का सिलसिलेवार प्रकाशन शुरू करेंगे।—सम्पादक

माध्यमिक शिक्षा को भी पंचायतों के हवाले करने की योजना

"शिक्षक मित्र" और "आचार्य" के बाद अब नियुक्त होंगे "विशेषज्ञ अध्यापक"

उत्तर प्रदेश सरकार प्राथमिक शिक्षा को पंचायतों को सौंपने के बाद अब माध्यमिक शिक्षा को भी पंचायतों के हवाले करके पूरी शिक्षा व्यवस्था में ही ठेका प्रणाली लागू करने का मन बना चुकी है। इस आशय का शासनादेश बस चुनावों के खात्मे की प्रतीक्षा में था।

प्रदेश की कल्याण सरकार सत्ता के और ज्यादा "विकेन्द्रीकरण" के लिए इस वक्त पूरी तरह से कृत संकल्प है। उसने प्राथमिक व उच्च प्राथमिक शिक्षा सहित राज्य सरकार के बारह विभागों को पंचायतों के मातहत करने के बाद अब माध्यमिक शिक्षा को भी उसे सौंपने का मन बना चुकी है। इसके अन्तर्गत जिला विद्यालय निरीक्षक का पदनाम बदलने के साथ ही अन्य विभागों की तरह माध्यमिक शिक्षक संवर्ग को भी "मृत" घोषित कर यहां भी ठेका प्रथा लागू कर दिया जायेगा।

प्राप्त सूचनाओं के अनुसार नयी व्यवस्था में, प्रदेश के सहायता प्राप्त अशासकीय माध्यमिक विद्यालयों को जिला परिषद के अधीन कर दिया जायेगा और जिला विद्यालय निरीक्षक, माध्यमिक शिक्षा अधिकारी कहलायेगा। साथ ही, शिक्षकों के सेवा सुरक्षा के प्रावधान समाप्त हो जायेंगे तथा शिक्षा सेवा चयन बोर्ड द्वारा नियुक्ति, वेतन वितरण अधिनियम के तहत वेतन भुगतान एवं इण्टरमीडियट शिक्षा अधिनियम द्वारा निर्धारित सेवा शर्तों को भी समाप्त किया जायेगा। नये प्रावधानों के तहत प्राथमिक विद्यालयों के "शिक्षक मित्र" और "आचार्य" की भांति माध्यमिक विद्यालयों में "विशेषज्ञ अध्यापक" से ठेके पर पढ़ाने का काम लिया जायेगा। इनकी भी नियुक्ति महज दस माह के लिए होगी और एवज में इन्हें प्रतिमाह महज पांच हजार रुपये "मानदेय" दिया जायेगा।

नये प्रावधानों में माध्यमिक विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों के अवकाश ग्रहण करने अथवा सेवाकाल में उनकी मृत्यु के पश्चात या पहले से रिक्त स्थानों पर माध्यमिक शिक्षा अधिनियम के तहत निर्धारित वेतनमान पर स्थायी नियुक्ति नहीं होगी। इसके स्थान पर "विशेषज्ञ शिक्षक" ही नियुक्त होंगे। इनकी नियुक्ति नये गठित होने वाले जिला शिक्षा समिति द्वारा किया जायेगा। समिति की सिफारिश पर प्रतिवर्ष जुलाई में "विशेषज्ञ शिक्षकों" को निर्धारित मानदेय पर रखा जायेगा और 30 मई को इनकी सेवा समाप्त कर दी जायेगी।

उल्लेखनीय है कि 1970 में लागू वेतन वितरण अधिनियम और माध्यमिक शिक्षा अधिनियम समाप्त करने का निर्णय सरकारी स्तर पर पहले ही लिया जा चुका है, इस पर राज्यपाल की महज मुहर लगनी बाकी है।

इस "पंचायती राज्य" से माध्यमिक शिक्षकों पर जो गाज गिरने वाला है, वह भयानक है। पहले ही नौ लाख लोगों की नौकरियां लीलने के लिए "जनतांत्रीकरण" का महिषासुर खड़ा था। अब लाखों शिक्षकों की नौकरियां भी उस दानव का ग्रास बनेंगी। लम्बे संघर्षों और कुर्बानियों के बाद अर्जित नौकरी की गारंटी एक झटके में समाप्त हो रही है, वार्षिक वेतन वृद्धि, महंगाई आवासीय आदि भत्ते, पेंशन, मृतक आश्रितों की नियुक्ति सहित सभी प्रकार की व्यवस्था और सभी प्रकार के अधिकार खत्म किये जा रहे हैं। भूमण्डलीकरण की नयी विश्व व्यवस्था लागू हो रही है; कारखानों से लेकर अब पढ़ाने तक का काम 'ठेकेदारी प्रथा' के तहत लिया जायेगा।

—देवेन्द्र
नैनीताल

बिगुल पढ़िए, पढ़ाइए, प्रचारित कीजिए

बिगुल का वार्षिक चंदा : 36 रुपए

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियां

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मजदूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मजदूर आंदोलन के इतिहास और सबक से मजदूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूंजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मजदूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों का नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मजदूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भुजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूंजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

बिगुल यहां से प्राप्त करें

- शहीद पुस्तकालय, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादापुर**, मऊ
- मौर्या बुक स्टाल, सआदतपुरा (निकट रोडवेज), मऊनाथभंजन, **मऊ**
- जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर**
- विजय इन्फारमेशन सेन्टर, कचहरी बस स्टेशन, **गोरखपुर**
- विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज**, गोरखपुर
- ओमप्रकाश, बाबा का पुरवा (पुराना), पेपर मिल रोड, निशातगंज, **लखनऊ**
- जनचेतना स्टाल, काफी हाउस के पास, हजरतगंज, **लखनऊ**, (शाम 5 से 7)
- राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ**
- विमल कुमार, बुक स्टाल, निकट नीलगिरी काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ**
- देवेन्द्र प्रताप, द्वारा श्री इन्द्र सिंह रावत, आल्मा काटेज, 7, मल्लीताल, **नैनीताल**
- ललित सती, भारतीय जीवन बीमा निगम, आवास विकास, **रुद्रपुर** (ऊधमसिंहनगर)
- प्रोग्रेसिव, बुक सेंटर, लंका **वाराणसी**
- राजीव वर्मा द्वारा डा. जे.पी. वर्मा, बी. पी. 82, पटेलनगर, **मुगलसराय**, वाराणसी
- राजेन्द्र प्रसाद, रेनु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, **रेणुकूट**, सोनभद्र
- सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग, **नई दिल्ली**
- पुस्तक मण्डप, दिल्ली विश्वविद्यालय कोआपरेटिव स्टोर, दिल्ली विश्वविद्यालय, **दिल्ली**
- एस.के.शर्मा, 282 बी, रेलवे कालोनी, **गढ़हरा**, बेगूसराय
- सुनील कुमार सिंह, सेक्टर-12 बी, 3159, बोकारो इस्पातनगर, **बोकारो**
- गणपतलाल, ग्राम काजी रसूलपुर, पो. तेघड़ा, **बेगूसराय**
- विकल्प सांस्कृतिक मोर्चा, 1835, सिल्वर ओक अपार्टमेंट, नेपियर रोड, **जबलपुर**
- पीपुल्स बुक हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना**
- समकालीन प्रकाशन (प्रा.)लि. पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना**
- संजय श्रीवास्तव, 221, उत्तरी सुन्दर वास, गंगा फ्लोर मिल, **उदयपुर**
- बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता**
- शर्मा बुक स्टाल थाना रोड,चराली, **तिनसुकिया**
- नरभिण्डर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा/पो. **सन्तनगर**, जिला-सिरसा
- राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मंदिर, प्रधान नगर, सिलीगुड़ी, **दार्जलिंग**

नेपाल

- पुस्तक पत्र-पत्रिका बिक्री-वितरण केन्द्र दिल्ली बाजार ओकालो, **काठमांडू**
- विशाल पुस्तक सदन, बिबुआर बाजार, **प्यूठान**, राप्ती अंचल
- विशाल पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, **बुटवल**, लुम्बिनी
- विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवनपथ, घुटवल, रुपनदेई

तराई क्षेत्र की बहुराष्ट्रीय कम्पनी होण्डा पावर प्रोडक्ट्स में तालाबंदी

(पेज 1 से आगे)

की मध्यस्थता में सम्पन्न कई दौर की वार्ताएं असफल साबित हुई हैं।

प्रबन्धकों के अड़ियलपने से मजदूरों ने पकड़ी आन्दोलन की राह

होण्डा के मजदूर तो वह त्रिवर्षीय समझौता चाहते थे जिसे विगत एक जुलाई से लागू होना था। उल्लेखनीय है कि 1990 में होण्डा के मजदूरों और प्रबंधतंत्र के बीच हुए एक समझौते के तहत वेतन पुनर्निर्धारण आदि के सम्बन्ध में त्रिवर्षीय समझौता होता चला आया है। पिछले समझौते की अवधि इस वर्ष 30 जून को समाप्त हो गयी।

मजदूरों की ओर से उनकी एकमात्र यूनियन 'श्रीराम होण्डा श्रमिक संगठन' ने मई माह में ही प्रबंधकों को नये समझौते पर आपसी सहमति के लिए एक आवेदन पत्र सौंपा था। जवाब में प्रबंधकों ने कारखाने के कुछ विभागों में पिछले समझौते के अनुरूप उत्पादन मानक पूरा न करने का आरोप मढ़ते हुए पहले उत्पादन बढ़ाने का एक पत्र प्रेषित किया।

यहां प्रबंधकों की एक चाल का मजदूर शिकार हो गये। 1996 के समझौते में हुआ यह था कि दोनों पक्षों की आम सहमति के आधार पर एक उत्पादन मानक तैयार किया गया था, जिस पर मजदूर आज तक कायम हैं। लेकिन समझौते के जिस दस्तावेज पर तत्कालीन यूनियन पदाधिकारियों से हस्ताक्षर करवाया गया था उसमें वेल्डिंग व एल्मुनियम शाप के लिए बढ़ाकर मानक लिख दिया गया था। तीन वर्षों की खामोशी के बाद प्रबन्धकों ने यह मुद्दा तब उठाया जब नये समझौते का समय आया। और तब जाकर मजदूरों को इस धोखाधड़ी का पता चला।

बहरहाल, यूनियन ने, मजदूरों की आम सहमति के आधार पर 7 जून को प्रबंधकों को अपना 18 सूत्रीय मांग पत्रक सौंप दिया। धीरे-धीरे समय बीतता गया। प्रबन्धक वर्ग द्वारा उत्पादन बढ़ाने की रट लगायी जाती रही और द्विपक्षीय और उपश्रमायुक्त की मध्यस्थता में लगातार जारी त्रिपक्षीय वार्ताएं महज औपचारिकता ही साबित होती रहीं।

इस बीच प्रबन्धकों द्वारा जारी उत्पीड़न की कार्रवाई और समस्या का न्यायोचित समाधान न निकलने की स्थिति में, यूनियन के नेतृत्व में मजदूरों ने, उत्पादन बरकरार रखते हुए कारखाने के भीतर ही विरोध प्रदर्शन शुरू कर दिया और हड़तालों की घोषणा कर दी। लेकिन उपश्रमायुक्त के न्यायोचित समाधान निकाले जाने के आश्वासन पर मजदूरों ने पुनः सामान्य स्थिति बहाल कर दी। उपश्रमायुक्त का यह आश्वासन भी महज थोथी बात साबित होकर रह गयी।

गतिरोध की स्थिति में पुनः मजदूर 9 सितम्बर से 4 घण्टे के टूल डाउन आन्दोलन करने के लिए बाध्य हो गये। फिर तो मजदूरों पर गाज गिरती चली गयी। पहले दैनिक वेतनभोगी और प्रशिक्षु मजदूर निकाले गये फिर निलम्बन-निष्कासन की कार्रवाई हुई, जबर्दस्ती मजदूरों से एक खतरनाक घोषणापत्र भरवाने की कोशिश की गयी जिसे सभी मजदूरों ने अमान्य कर दिया। उन्हें कानूनी मकड़जाले में फंसाया जाने लगा। इनपर दबाव बनाने के लिए गैरकानूनी तौर पर जबर्दस्त वेतन कटौती की गयी। कई मजदूरों को तो वेतन मिलना तो दूर घर से ही पैसे जमा करने पड़े।

जब इन घृणित कार्रवाइयों से भी मजदूर विचलित नहीं हुए और कारखाने में बने रहते हुए धैर्यपूर्वक आन्दोलन चलाते रहे तो प्रबन्धकों ने अचानक आंशिक तालाबंदी करके कारखाने में मजदूरों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

औद्योगिक अशान्ति का जिम्मेदार होण्डा का प्रबंधतंत्र

लगभग चार माह से ऊहापोह और मानसिक तनाव के दौर से गुजरने के बावजूद होण्डा के मजदूरों ने अब तक शान्तिपूर्ण तरीके से ही आन्दोलन चलाया है। प्रबन्धकों की तो शुरू से ही यही कोशिश रही है कि मजदूर आम हड़ताल करके कारखाने से बाहर चले जायें। वास्तव में, **औद्योगिक अशान्ति फैलाने और उसकी तोहमत मजदूरों पर मढ़ने की नापाक साजिशें तो प्रबंधकों द्वारा ही होती रही हैं। अवैधानिक तालाबंदी करके अशान्ति तो उसने ही फैलायी है।** यह वह कारखाना है जहां का **एक जापानी निदेशक यह बयान देता है कि जब तक भारतीयों को लात न मारी जाये तब तक वे काम नहीं करते!**

क्या यह जापानी कारखाना घाटे में है?

बहुराष्ट्रीय कम्पनी होण्डा द्वारा 1987 में भारतीय पूंजीपति समूह श्रीराम के साथ मिलकर तराई में श्रीराम होण्डा के नाम से जेनरेटर बनाने के इस कारखाने की स्थापना हुई थी। बाद में श्रीराम के शेयरों को भी खरीद कर 'होण्डा पावर प्रोडक्ट' के नाम से यह पूर्णतः एक जापानी कारखाना बन गया।

1990 से पहले यह कारखाना लगभग 5 करोड़ रुपये के घाटे में था। लेकिन मजदूरों के अथक परिश्रम और भारतीय मजदूरों के सस्ते श्रम की बदौलत न केवल इस कंपनी ने अपने पुराने घाटे पूरे कर लिये, अपितु उसके मुनाफे की दर लगातार बढ़ती चली गयी। अब तक इसने लगभग 100 करोड़ रुपये से भी ज्यादा का मुनाफा अर्जित कर लिया है। मुनाफे का अन्दाजा केवल इस बात से लगाया जा सकता है कि वर्ष 1998-99 में इस कम्पनी ने लगभग 26 करोड़ रुपये का शुद्ध लाभ कमाया था। यह मुनाफा तो जनरेटर बनने के बाद है। कारखाने में कच्चा माल सप्लाई करके यह जापानी कम्पनी लगभग 40 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष अतिरिक्त अपने देश ले जा रही है। शोध और अनुसंधान के नाम पर विदेशी लूट अलग से।

इतना भारी मुनाफा पीटने वाली यह कम्पनी जहां अपने प्रबन्धकों को 35 से 85 हजार रुपये मासिक वेतन और अतिरिक्त भारी सहूलियतें दे रही है, वहीं अतीत के लम्बे संघर्षों के बाद मजदूरों को महज 4 से 6 हजार रुपये वेतन मिल पा रहा है। जबकि दैनिक वेतनभोगियों से न्यूनतम दिहाड़ी पर काम लिया जा रहा है। यही नहीं कुछ पार्ट्स वह अपने उप कारखानों में ठेके पर बनवाती है जहां मजदूरों को 12 घण्टे काम के एवज में 1000 से 1500 रुपये मासिक से अधिक नहीं मिल पाता है।

फिर तालाबंदी की वजह क्या है?

तालाबंदी तो पूंजीपतियों का एक कारगर हथियार है। एक ऐसा हथियार जिसका एक प्रयोग मजदूरों को आर्थिक तौर पर पंगु बनाने के लिए भी किया जाता है। जो उन्हें भुखमरी की स्थिति में पहुंचा देता है ताकि मजदूर पूंजीवादी लुटेरों के सामने बेबस हो जाये। होण्डा मालिकान की भी यही साजिश है।

असलियत यह है कि लगभग 20 हजार रुपये प्रतिघण्टा मुनाफा कमाने वाली इस विदेशी कम्पनी के लिए वेतन पुनर्निर्धारण कोई बड़ा मसला नहीं है। यह कम्पनी अपने दूसरे भारतीय कारखानों में अपने स्थायी मजदूरों को यहां के मुकाबले दोगुने से भी ज्यादा तनख्वाहें और सहूलियतें देती है। फिर इतना अड़ियलपन क्यों?

इस कारखाने के समस्त मजदूरों में जबर्दस्त एकजुटता है। वे कारखाने के दैनिक वेतनभोगी कैजुअल और ठेका मजदूरों के लिए तो लड़ते ही रहे हैं; पूरे इलाके के मजदूरों की किसी भी न्यायसंगत लड़ाई में अपनी जुझारू एकजुटता भी प्रदर्शित करते रहे हैं। इसीलिए पूरे इलाके के कारखानेदार इसे चुनौती के रूप में लेते रहे हैं। इस बार उनकी हरचन्द कोशिश यही है कि इनकी एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया जाये। इसके लिए तराई के पूंजीपतियों की लगातार बैठकें हो रही हैं। पूर्व की भांति प्रशासन और श्रम विभाग की हरी झण्डी भी उनके पक्ष में है।

दूसरे, भूमण्डलीकरण के इस दौर में जहां निजीकरण-छंटनी-तालाबंदी का दौर चल रहा है, नित नये मजदूर विरोधी कानून बनाये जा रहे हैं, लम्बे संघर्षों से अर्जित सहूलियतें एक झटके में छीन ली जा रही हैं, वहां होण्डा प्रबन्धकों से भला क्या उम्मीद की जा सकती है? उनकी कुत्सित साजिशों का ही परिणाम है कि समझौते के ठीक पहले यूनियन का पंजीकरण श्रम विभाग ने समाप्त कर दिया जिस पर संगठन को न्यायालय से स्थगनादेश लेना पड़ा और यूनियन एक और कानूनी पेचीदगी में उलझ गयी।

हर तरफ जारी है छंटनी-तालाबंदी का कहर

होण्डा के मजदूर एक ऐसे वक्त में जीवन-मरण का संघर्ष कर रहे हैं जब पूरे देश में देशी-विदेशी अंधी लूट का कहर बरपा हो रहा है। बीमा-बैंक-रेल बस-विद्युत-डाक-शिक्षा सबपर निजीकरण व छंटनी की तलवार लटक रही है। तमाम बड़े कारखाने या तो बंद किये जा चुके हैं या बन्दी के कगार पर हैं। पिछले महज आठ वर्षों में लगभग ढाई लाख छोटे-बड़े कारखाने बन्द हो चुके हैं और ढाई करोड़ मजदूर सड़कों पर ढकेले जा चुके हैं। नये पंचायती राज ने केवल उत्तर प्रदेश में 9 लाख राज्यकर्मियों को ठेकाकर्मी में बदल दिया है। निजी कारखानों में ठेका मजदूरों से मामूली दिहाड़ी पर 14-14, 18-18 घण्टे काम लिया जा रहा है। कारखानों में नयी यूनियनें बनने नहीं दी जा रही हैं और पुरानी यूनियनें या तो खत्म की जा रही हैं अथवा उन्हें खरीदने की प्रक्रिया चल रही है। किसी भी न्यायपूर्ण आवाज को कुचलने के लिए पूरी सरकारी मशीनरी तैयार बैठी है। इस मामले पर सभी चुनावी राजनीतिक पार्टियां एकमत हैं। सत्तारूढ़ भाजपा का फासिस्टी नंगानाच सबके सामने है।

इन हालात में जहां देशी-विदेशी पूंजीवादी लुटेरों का मनोबल काफी मजबूत हुआ है, वहीं मजदूर आन्दोलन बेहद कठिन दौर से गुजर रहा है।

इलाकाई पैमाने पर क्रान्तिकारी एकजुटता कायम करनी होगी!

अभी पिछले दिनों इलाके के कई कारखाने के मजदूर आंदोलनों की आंशिक या पूर्णतः पराजय से कारखानेदारों के हौसले काफी बुलंद हुए हैं। अब वे होण्डा के मजदूर आंदोलन को कुचलकर पूरे इलाके के मजदूर आन्दोलन को सबक सिखाना चाहते हैं। इस कठिन परिस्थिति में पूरे तराई क्षेत्र की मजदूर आबादी अपनी क्रान्तिकारी एकजुटता कायम करते हुए सूझ-बूझ भरे कदमों से ही जीत की कोई मंजिल कायम कर सकती है।

आज जबकि पूरे इलाके के पूंजीवादी लुटेरे श्रम की लूट के मामले में एकजुट हो चुके हैं और अपने चैम्बर बनाकर खुलेआम हमले बोल चुके हैं तो इस इलाके के मजदूर एकजुट क्यों न हो? जब कारखानेदारों के पक्ष में अपनी वर्गीय एकजुटता दिखाते हुए इलाके के बड़े फार्मर मजदूर विरोधी बयान देने से बाज नहीं आते हैं तो खेतिहर मजदूरों और कारखाना मजदूरों को एक-दूसरे के पक्ष में खुलकर सामने आना ही पड़ेगा। शिक्षकों-कर्मचारियों को भी अपने न्यायपूर्ण संघर्षों के साथ ही मजदूर आन्दोलन का साझीदार बनना ही पड़ेगा। छात्रों-नौजवानों को भी सबको शिक्षा और रोजगार के लिए आन्दोलन संगठित करते हुए मजदूरों के कंधे से कंधा मिलाकर चलना होगा।

इसके साथ ही, होण्डा के मजदूरों को अतीत में तराई क्षेत्र में चले आन्दोलनों से भी सबक लेना होगा (इसमें 'बिगुल' के जून-जुलाई '99 अंक में प्रकाशित रिपोर्ट 'कुछ जरूरी नतीजे कुछ कीमती सबक' भी मददगार साबित हो सकती है।) परिस्थितियों को नजरअंदाज करके अति आत्मविश्वास भी घातक होता है। पेचीदगियों पर संजीदगी से सोचकर ही दिशा निर्धारण होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, प्रबंधकों द्वारा जो कानूनी पेचीदगियां पैदा की जाती हैं उसके लिए अपने कानूनी हथियार भी दुरुस्त रखने होंगे। अपने देश के पूंजीवादी जनवाद ने मजदूरों के संघर्षों के दबाव में उनको जो जनवादी अधिकार दिये हैं और जो कानून बनाये हैं, उनका लाभ उठाकर मेहनतकशों को कानूनी संघर्ष तो जरूर करना चाहिए पर अदालतों और श्रम विभाग के बजाय मुख्य भरोसा अपनी संगठित शक्ति पर ही करना चाहिए।

संकीर्ण बंटवारे की जंजीरों को तोड़कर अपनी वर्गीय एकजुटता कायम करके ही पूंजीपतियों के नापाक इरादों का माकूल जवाब दिया जा सकता है।

सम्पादक की ओर से

मजदूर साथियों से चन्द दो टूक बातें—एक सीधा आह्वान

साथियो,

पिछले साढ़े तीन वर्षों से 'बिगुल' लगातार आपके हाथों में पहुच रहा है। हालांकि बड़े पैमाने पर मेहनतकश अवाम ने इसका स्वागत किया है और अपने इंकलाबी अखबार के रूप में इसे अपनाया है, पर हम इससे बहुत अधिक की आपसे उम्मीद रखते हैं।

'बिगुल' सही मायने में क्रान्तिकारी मजदूर अखबार तभी बन सकता है, जब आप स्वयं कलम उठायें और इसके बारे में तफसील के साथ अपनी राय लिख भेजें। आप इसकी कमियों-कमजोरियों के बारे में हमें समझाकर बताइये और जाहिरा तौर पर, यह भी बताइये कि आपको इसमें क्या-क्या अच्छा लगा।

और यही नहीं, हम यह भी चाहते हैं आप अपने कारखाने, वर्कशाप या काम की पूरी परिस्थितियों के बारे में, उनकी हर किस्म की छोटी-बड़ी कठिनाइयों के बारे में, मालिक, सुपरवाइजर, फोरमैन के व्यवहार के बारे में, काम के घण्टों और सुरक्षा-प्रबंधों के बारे में रिपोर्ट तैयार करके भेजिए। आपके यहां वेतन-संशोधन, मंहगाई भत्ता, ओवरटाइम आदि की क्या स्थिति है? लेबर कोर्टों में कितने मामले हैं? छंटनी-तालाबंदी आदि की क्या स्थिति है? मालिकों-अफसरों का रवैया उदार है या दमनकारी? किसी न किसी तरह से सताये जा रहे मजदूर को लेबरकोर्ट से क्या इंसाफ मिला है या मिल पाता है?

इस मामले में ट्रेड यूनियनों की क्या भूमिका है, उनके नेताओं की क्या भूमिका है? वे आन्दोलन और संघर्ष द्वारा मालिकों पर कुछ दबाव बनाते हैं या केवल समझौता वार्ताओं-मध्यस्थताओं-दलाली की राजनीति करते हैं? इन ट्रेड यूनियनों की राजनीतिक भूमिका क्या है? ये तमाम संसदीय पार्टियों से जुड़ी हैं या कुछ स्वतंत्र भी हैं? किन-किन कारणों से ये अलग-अलग हैं और मजदूरों को भी बांट रखा है? यानी इनके आपसी मतभेद के मुद्दे क्या हैं? आपके ख्याल से ट्रेड यूनियन आंदोलन की स्थिति क्या है? यह तरक्की कर रहा है या इसमें गिरावट आ रही है? आप ट्रेड यूनियनों से क्या चाहते हैं? क्या आज ये मजदूर वर्ग के राजनीतिक संघर्षों की एक अनिवार्य पाठशाला की भूमिका निभा पा रही हैं? हमें इन सभी मसलों पर आपसे जानकारी चाहिए और आपकी राय चाहिए।

आप समाजवाद, सर्वहारा क्रान्ति और मजदूर राज के बारे में क्या सोचते हैं? आपके खयाल से इस ओर आगे बढ़ने यानी पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के खिलाफ फैसलाकुन लड़ाई में ट्रेड यूनियन आन्दोलन क्या भूमिका निभायेगा और किस प्रकार?

पूरे देश के पैमाने पर उदारीकरण और निजीकरण की नई आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से करोड़ों मजदूर बेकार हो चुके हैं, पुराने कारखाने बंद होते जा रहे हैं, गरीब और मध्यम किसान अपनी जगह-जमीन से उजड़ते जा रहे हैं, एक के बाद एक ट्रेडयूनियन अधिकारों को छीना जा रहा है। आपके कारखाने, शहर, गांव या इलाके की क्या स्थिति है? पिछले सात-आठ वर्षों में क्या-क्या विशेष बदलाव आये हैं? हम आपसे यह जानकारी भी विस्तार से चाहते हैं।

आप अपनी कालोनी या बस्तियों की स्थिति, अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी की परेशानियों-समस्याओं के बारे में भी विस्तार से 'बिगुल' के लिए रपटें तैयार करके भेजिये।

'बिगुल' वेतनभोगी पत्रकारों-कर्मचारियों-एजेण्टों के भरोसे चलने वाला अखबार नहीं है। मजदूर ही इसके सही संवाददाता हो सकते हैं, पत्रकार हो सकते हैं। मजदूर ही इसके वितरक, एजेण्ट और हॉकर होंगे। यह मजदूरों के (और साथ ही मजदूर क्रान्ति के समर्थक प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के) सहयोग से प्रकाशित होता है। इसके सम्पादन और लेखन की टीम से जुड़े

(पेज 4 पर जारी)

मजदूर नायक : क्रान्तिकारी योद्धा

वर्ग-सचेत मजदूरों के बहादुर बेटे जब एक बार अपनी मुक्ति के दर्शन को पकड़ लेते हैं; जब एक बार वे सर्वहारा क्रान्ति के मार्गदर्शक सिद्धान्त को पकड़ लेते हैं; तो फिर उनकी अडिग निष्ठा, शौर्य, व्यावहारिक जीवन की जमीनी समझ और सर्जनात्मकता उन्हें हमारे युग के नये नायकों के रूप में ढाल देती है। ऐसे लोग उस करोड़ों-करोड़ आम मेहनतकश जनसमुदाय के उन सभी वीरोचित उदात्त गुणों को अपने व्यक्तित्व के जरिए प्रकट करते हैं, जो इतिहास के वास्तविक निर्माता और नायक होते हैं। इसलिए ऐसे लोग क्रान्तिकारी जनता के सजीव प्रतिनिधि चरित्र और इतिहास के नायक बन जाते हैं और उनकी जीवन-गाथा एक महाकाव्यात्मक आख्यान बन जाती है।

'बिगुल' के इस अनियमित स्तम्भ में हम दुनिया की सर्वहारा क्रान्तियों की ऐसी ही कुछ हस्तियों के बारे में उन्हीं के समकालीन किसी महान क्रान्तिकारी नेता या लेखक की संस्मरणात्मक टिप्पणी या रेखाचित्र समय-समय पर अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित करते रहेंगे। ये ऐसे लोगों की गाथाएं होंगी जिन्होंने शोषण-उत्पीड़न की निर्मम-अंधी दुनिया के अंधेरे से ऊपर उठकर जिन्दगी भर उस अंधेरे से लोहा लिया और क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि चरित्र बन गये। वे क्रान्तिकथाओं के ऐसे नायक थे, जो इतिहास-प्रसिद्ध तो नहीं थे, पर जिनकी जिन्दगी से यह शिक्षा मिलती है कि श्रम करने वाले लोग जब ज्ञान तक पहुंचते हैं और अपनी मुक्ति का मार्ग ढूंढ़ लेते हैं तो फिर किस तरह अडिग-अविचल रहकर वे क्रान्ति में हिस्सा लेते हैं। उनके भीतर ढुलमुलपन, कायरता, कैरियरवाद, उदारतावाद और अल्पज्ञान पर इतराने जैसे दुर्गुण नहीं होते जो मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों से आने वाले कम्युनिस्टों में क्रान्तिकारी जीवन के लम्बे समय तक बने रहते हैं और पार्टी में तमाम भटकावों को बल देने में अहम भूमिका निभाते हैं।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि भारतीय मजदूरों के बीच से भी ऐसे ही वर्ग-सचेत बहादुर सपूत आगे आयेंगे। सर्वहारा वर्ग की पार्टी के क्रान्तिकारी चरित्र के बने रहने की एक बुनियादी शर्त है कि मेहनतकशों के बीच के ऐसे सम्भावनायुक्त तत्वों की राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा करके उन्हें निखारा-मांजा जाये और क्रान्तिकारी कतारों में भरती किया जाये।

—सम्पादक

रॉबर्ट शा : विश्व सर्वहारा क्रान्ति के इतिहास के मील के पत्थरों में से एक

पिछले करीब डेढ़ सौ वर्षों के विश्व सर्वहारा क्रान्ति के इतिहास में, बहुतेरे देशों में **रॉबर्ट शा** जैसे हजारों ऐसे मजदूर संगठनकर्ता और नेता हुए हैं, जिनसे आम जनता तो दूर, इतिहास के विद्यार्थी भी परिचित नहीं है। ऐसे लोगों के बारे में यहां-वहां से, बड़ी मुश्किल से छिट-पुट जानकारी मिलती है, पर उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे सर्वहारा चरित्रों के बिना हम सर्वहारा क्रान्तियों की यात्रा की कल्पना भी नहीं कर सकते।

रॉबर्ट शा पेशे से घरों की रंगाई-पुताई करने वाला एक गरीब अंग्रेज मजदूर (रंगसाज) था, जो **पहले इण्टरनेशनल** के संस्थापक सदस्यों में से एक था।

इण्टरनेशनल वर्किंग मेन्स एसोसिएशन (पहला इण्टरनेशनल) की स्थापना 28 सितम्बर, 1864 को लन्दन के सेंट मार्टिन हाल में यूरोप के विभिन्न देशों के मजदूरों की एक सभा में हुई। सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के उसूलों को साकार करने वाला यह पहला संगठन था। **''मार्क्स इस संगठन के हृदय और आत्मा थे। उसके पहले सम्बोधन तथा दर्जनों दूसरे प्रस्तावों, ऐलानों और घोषणापत्रों के भी लेखक वही थे। विभिन्न देशों के मजदूर आंदोलनों को एकताबद्ध करके, मार्क्सवाद से पहले के गैरसर्वहारा वर्गीय समाजवाद के विभिन्न रूपों (मेजिनी, प्रूधों, बाकुनिन, ब्रिटिश उदारवादी ट्रेड यूनियन आंदोलन, जर्मन लासालवादियों आदि को) संयुक्त कार्रवाइयों में लाने की दिशा में कोशिश करके, तथा इन सभी मतों और सम्प्रदायों के सिद्धान्तों से संघर्ष करके, मार्क्स ने विभिन्न देशों के मजदूर वर्ग के सर्वहारा संघर्ष के लिए एक ही जैसी कार्यनीति निर्धारित की।''** (लेनिन)

पेरिस कम्यून (1871) की पराजय तथा अराजकतावादी बाकुनिन के चेलों द्वारा पैदा की गई फूट के बाद, हेग कांग्रेस (1872) के पश्चात मार्क्स ने इण्टरनेशनल की आम परिषद को न्यूयार्क भिजवा दिया। क्रमशः निष्प्रभावी होता इण्टरनेशनल 1876 में विघटित कर दिया गया, क्योंकि इतिहास के रंगमंच पर अब उसने अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभा ली थी। उसने दुनिया भर में मजदूर आन्दोलन के और अधिक विकास के लिए, एक ऐसे काल के लिए रास्ता तैयार कर दिया था जिसमें आन्दोलन का दायरा विस्तारित हुआ और अलग-अलग देशों में समाजवादी जन पार्टियों की स्थापना हुई तथा **दूसरा इण्टरनेशनल** अस्तित्व में आया। लेनिनकालीन बोल्शेविक ढांचे की क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टियों ने और फिर **अक्टूबर क्रान्ति** के बाद स्थापित **तीसरे इण्टरनेशनल** ने इसी विकास-यात्रा को आगे बढ़ाया।

रॉबर्ट शा पहले इण्टरनेशनल की आम परिषद के सबसे सक्रिय सदस्यों में से एक था। उस समय तक ब्रिटेन के मजदूर आन्दोलन में उदारपंथी ट्रेड यूनियन नेता और उनका ट्रेड यूनियनवाद मुख्यतः प्रभावी हो चुके थे जो बड़े पैमाने के पूंजीवादी उत्पादन के प्रगतिशील स्वरूप को स्वीकारते हुए पूंजीवाद के पैरोकार कूपमण्डूक अर्थशास्त्रियों के पैरोकार बन चुके थे। उनका मानना था कि पूंजीवाद की बुनियाद बहुत ठोस है और मजदूर आन्दोलन का काम सिर्फ इतना ही है कि वे मजदूरों के लिए कुछ बेहतर वेतन, बेहतर सुविधाएं और सुधार हासिल कर लें।

पहले इण्टरनेशनल में मार्क्स के अनुयायियों के साथ ही निम्न पूंजीवादी समाजवाद और अराजकतावाद की जो भी धाराएं शामिल थीं, वे पूंजीवादी शोषण के खिलाफ मेहनतकश जनता के विरोध को प्रकट करतीं थीं, पर साथ ही पूंजीवादी उत्पादन की रुझान के खिलाफ छोटे उत्पादकों के विरोध को भी प्रतिबिम्बित करती थीं, जो एक प्रतिगामी रुझान थी। लेकिन ये सभी धाराएं मेहनतकशों की अन्तरराष्ट्रीय एकता की पक्षधर थीं जबकि उदारपंथी सुधारवादी ब्रिटिश ट्रेडयूनियनवादी लोग संकीर्ण स्थानीयतावादी थे।

रॉबर्ट शा उन राजनीतिक चेतना-सम्पन्न मजदूरों में से एक था जिसने पहले इण्टरनेशनल के निर्माण के पहले ही ब्रिटिश सुधारवादी ट्रेड यूनियनवादी नेताओं के प्रभाव एवं वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष शुरू कर दिया था। रॉबर्ट शा उन थोड़े से ब्रिटिश मजदूर नेताओं में शामिल था जो चार्टिस्ट या समाजवादी विचार रखते थे और महज अपने-अपने कारखानों में वेतन और सुधार की मांग के लिए लड़ने के बजाय मजदूरों की अन्तरराष्टीय एकजटता और व्यापक वर्गीय हितों के लिए साझा संघर्ष की वकालत करते थे। इन नेताओं ने जर्मन और फ्रांसीसी मजदूरों और पोलिश आप्रवासियों के साथ सम्पर्क स्थापित किये। यह पहले इण्टरनेशनल की स्थापना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

पहले इण्टरनेशनल की आम परिषद में **जॉर्ज ऑडगर, क्रेमर** और **जॉन हेल्स** के साथ ही इंगलैण्ड से रॉबर्ट शा को चुना गया। साथ ही उसे उत्तर अमेरिका के लिए संवादी सचिव की भी जिम्मेदारी सौंपी गई। मार्क्स ने इस बात को स्वीकार किया था कि **''मुख्यतः रॉबर्ट शा के निरंतर प्रयासों का ही नतीजा था कि इंगलैण्ड के बहुतेरे ट्रेड यूनियन संगठन हमारे साथ लामबन्द हो सके।''**

कम्युनिस्ट लीग के पुराने सदस्य **लेसनर, लोशनर, फैन्द्रा** और **कॉब**, फ्रांस के प्रभारी और वाद्ययंत्र बनाने वाले कारीगर **यूजीन दयूर्या** तथा स्विटरजरलैण्ड के प्रभारी, घड़ीसाज **हरमन जंग** के साथ मिलकर रॉबर्ट शा ने इण्टरनेशनल की आम परिषद में मार्क्स की काफी सहायता की। प्रायः लन्दन स्थित मार्क्स के आवास पर होने वाली बैठकों में रॉबर्ट शा नियमित रूप से भाग लेता था।

इण्टरनेशनल को खड़ा करने और ब्रिटिश ट्रेड यूनियनवादी नेताओं के विरुद्ध संघर्ष में रॉबर्ट शा ने अपनी जिन्दगी कुर्बान कर दी। अनथक श्रम से उसकी सेहत बर्बाद होती चली गई पर वह इसकी बिना परवाह किये अपने काम में जुटा रहा।

31 दिसम्बर 1869 को अन्ततः फुफ्फुस यक्ष्मा (पल्मोनरी ट्यूबरकलोसिस) रोग के चलते ही उसकी मृत्यु हुई, जो गत कुछ वर्षों से दीमक की तरह उसके शरीर को चाटता जा रहा था। रॉबर्ट शा मरते समय रोग के साथ ही, अपने परिवार के साथ भूख और बेरोजगारी से भी जूझ रहा था। इण्टरनेशनल की 1868 की ब्रुसेल्स कांग्रेस से लौटने के बाद, वह नौकरी से निकाल दिया गया। उसकी मृत्यु के बाद उसकी पत्नी और बेटी को घोर गरीबी में दिन बिताने पड़े। पर जिन हजारों ब्रिटिश मजदूरों के बीच उसने राजनीतिक काम किया था, वे उसे कभी नहीं भूल सके। वे उसके साहस, धैर्य, विनम्रता और जिन्दादिली की बात करते नहीं अघाते थे।

रॉबर्ट शा की मृत्यु की सूचना इण्टरनेशनल की सभी शाखाओं तक भेजने की जिम्मेदारी इण्टरनेशनल की आम परिषद ने कार्ल मार्क्स को सौंपी। कार्ल मार्क्स ने इण्टरनेशनल की बेल्जियम शाखा के नेता **दे पाएपे** को पत्र भेजते हुए एक निधन-सूचना भी लिखकर भेजी जो **ल' इन्तरनेशनाल** (इण्टरनेशनल की बेल्जियम शाखा का मुखपत्र) के 16 जनवरी के अंक (अंक- 53) में एक सम्पादकीय टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुई।

मार्क्स द्वारा लिखित इस निधन-सूचना को हम इसबार 'बिगुल' के पाठकों के लिए यहां प्रकाशित कर रहे हैं।

● **आलोक रंजन**

रॉबर्ट शा (निधन-सूचना)

● **कार्ल मार्क्स**

इण्टरनेशनल के संस्थापकों में से एक, लन्दन आम परिषद के सदस्य, उत्तर अमेरिका के लिए संवादी सचिव नागरिक रॉबर्ट शा का इस सप्ताह फुफ्फुस-यक्ष्मा (पल्मोनरी ट्यूबरकलोसिस) रोग से देहान्त हो गया।

वे परिषद के सर्वाधिक सक्रिय सदस्यों में से एक थे। वे एक शुद्ध हृदय, लौह चरित्र, भावप्रवण स्वभाव और सच्ची क्रान्तिकारी प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति थे जो किसी भी तरह की क्षुद्र महत्वाकांक्षा और व्यक्तिगत स्वार्थ से काफी ऊपर थे। वे स्वयं एक गरीब मजदूर थे, पर हमेशा ही वे किसी मजदूर को अपने से अधिक गरीब समझकर उसकी सहायता के लिए तत्पर रहते थे। व्यक्तिगत मामलों में वे एक बच्चे की तरह विनम्र थे, लेकिन अपने सार्वजनिक जीवन में हरतरह के समझौते को वे रोषपूर्वक खारिज करते रहे। यह मुख्यतः उन्हीं की लगातार कोशिशों का नतीजा था कि (ब्रिटिश) ट्रेड यूनियनें हमारे साथ लामबन्द हो सकीं। लेकिन इसी काम ने बहुतों को उनको प्रचण्ड शत्रु भी बना दिया। ब्रिटिश ट्रेड यूनियनें, सबकी सब स्थानीय मूल की रही हैं और मूलतः सबकी स्थापना सिर्फ वेतन आदि मांगों के ही खास उद्देश्य से हुई थी। इस नाते, मध्ययुगीन गिल्डों जैसी संकीर्णता कमोबेश इन सभी यूनियनों की अभिलाक्षणिकता थी। एक छोटी सी अनुदारवादी पार्टी हर कीमत पर ट्रेडयूनियनवाद के इस बुनियादी ढांचे को बरकरार रखना चाहती थी। इण्टरनेशनल की स्थापना के बाद इन अभिप्रेत बंधनों को छिन्न-भिन्न कर डालने तथा यूनियनों को सर्वहारा क्रान्ति के संगठित केन्द्रों में बदल डालने के काम को शा ने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। सफलता ने हमेशा ही उनके प्रयत्नों को विजय-मुकुट से विभूषित किया लेकिन उसी समय से उनका जीवन एक भयंकर संघर्ष बन गया जिसमें उनकी कमजोर सेहत ने उनका साथ छोड़ दिया। ब्रुसेल्स कांग्रेस (सितम्बर, 1868) के लिए रवाना होते समय ही, वे मौत की दहलीज पर खड़े थे। लौटने के बाद, उनके भले बुर्जुआ मालिकों ने उन्हें काम से हटा दिया। वे पत्नी और बेटी को गरीबी की हालत में अपने पीछे छोड़ गये हैं, लेकिन अंग्रेज मजदूर उन्हें कत्तई अकेला, बेसहारा नहीं छोड़ेंगे।

(4 जनवरी 1870 को लिखित, 'ल' इन्तरनेशनाल' के 16 जनवरी 1870 (अंक-53) के अंक में प्रकाशित, मार्क्स-एंगेल्स : कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड - 21, पृ. 92)

मजदूर साथियों से एक सीधा आह्वान

(पेज 3 से आगे)

जो साथी मध्यमवर्गीय परिवारों से आये हैं, वे भी मजदूरों की जिन्दगी और संघर्षों से जुड़कर एकरूप हो जाने की प्रतिज्ञा किये हुए लोग हैं।

अतः 'बिगुल' द्वारा मजदूरों की क्रान्तिकारी आवाज बुलन्द करने के लिए जरूरी है कि आप 'बिगुल' के संवाददाता बनें, इसमें नियमित रपटें और लेख भेजें, इसमें छपी चीजों पर अपनी राय और सलाह भेजें, साथ ही अपने इलाके में इसका वितरण करें और ज्यादा से ज्यादा मेहनतकशों तक इसे पहुंचायें।

बहुत जरूरी है कि 'बिगुल' को पसन्द करने वाले और इसके मकसद से सहमत मजदूरों को संगठित किया जाये और छोटे-छोटे ग्रुपों में उन्हें इकट्ठा करके मजदूर आन्दोलन, ट्रेड यूनियन आदि की समस्याओं तथा सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों पर नियमित बातचीत की जाये तथा मेहनतकश क्रान्तियों की समस्याओं, इतिहास, सिद्धान्त आदि पर कुछ पढ़ाई-लिखाई भी की जाये। यह छोटी सी शुरुआत एक महत्वपूर्ण, बहुत बड़ी शुरुआत भी हो सकती है। पहली बात यह है कि कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी हममें एक नई शुरुआत करने का साहस हो, संकल्प हो और यह विश्वास हो कि यह दुनिया यहीं रुकी नहीं रहेगी।

पूरी दुनिया की सम्पदा के निर्माताओं को फिर से बगावत करनी ही होगी और बगावत से क्रान्ति की दिशा में आगे बढ़ना ही होगा। हमें इन हालात को बदलने के लिए इनको समझना है और इनको बदलने की जद्दोजहद के दौरान खुद को बदल लेना है।

मजदूर वर्ग के नये क्रान्तिकारी जागरण और नये क्रान्तिकारी ज्ञानोदय का यही संदेश है।

चीनी क्रान्ति की पचासवीं वर्षगांठ (एक अक्टूबर) के अवसर पर

बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता

आलोक रंजन

''शस्त्र बल द्वारा सत्ता छीनना, युद्ध द्वारा मसले को सुलझाना क्रान्ति का केन्द्रीय कार्य और सर्वोच्च रूप है।''—माओ त्से-तुङ

जहां तक इतिहास के पन्ने हम पलट पाते हैं, मानवता की विकास-यात्रा वर्ग-संघर्ष और क्रान्तियों का एक अटूट सिलसिला नजर आती है। जुल्म से खल्क टकराती रही और इंकलाब के आग के दरिया से गुजरकर नये युग जन्म लेते रहे। बेशक इस सफर में चढ़ाव-उतार और वक्ती तौर पर उलटाव भी आते रहे, पर हारी हुई क्रान्तियां फिर-फिर नई क्रान्तियों की जमीन बनाती रहीं और जमाना पलटता रहा। हार से अमर क्रान्तियों की चमक कभी धुंधली नहीं पड़ी और इतिहास जब आगे बढ़ चला, तब पता चला कि इंसानियत की किस्मत गढ़ने में उन क्रान्तियों ने क्या भूमिका निभाई थी!

हमारी यह बीतती हुई सदी सिर्फ साम्राज्यवादी लूट-खसोट, भयानक संहारक युद्धों और पूंजीवादी उन्माद और सनक की सदी ही नहीं रही है। यह साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय मुक्तियुद्धों और सर्वहारा क्रान्तियों की तथा उन महान भौतिक-आत्मिक उपलब्धियों की भी सदी भी रही है, जिन्हें आम जनता तक पहुंचाने के लिए पुनः नई क्रान्तियों की एक श्रृंखला की दरकार है।

बीसवीं सदी के इतिहास की धुरी हर-हमेशा सर्वहारा वर्ग के संघर्ष ही रहे हैं। और जिन दो क्रान्तियों ने इस सदी का स्वरूप और इसका भविष्य गढ़ने में—इसकी नियति निर्धारित करने में सबसे अधिक फैसलाकुन भूमिका निभाई हैं, वे हैं—**1917 की सोवियत समाजवादी क्रान्ति और 1949 की चीनी नवजनवादी क्रान्ति।**

सदी के इस अन्तिम वर्ष में, एक बेहद कठिन समय में जीते हुए, हम महान चीनी क्रान्ति का अर्द्ध-शती वर्ष मना रहे हैं। अफवाहों, कुत्सा-प्रचारों और झूठ से या आज के चीन के नये पूंजीवादी शासकों के काले कारनामों से उस महान क्रान्ति की आभा मन्द नहीं पड़ी है जिसने सदियों से लूटे और कुचले जा रहे विशाल देश की सोई हुई जनता को एक प्रचण्ड चक्रवाती तूफान की भांति जगाकर खड़ा कर दिया। एशिया के जागरण की **लेनिन** की भविष्यवाणी को साकार करते हुए चीन की साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति ने एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के अधिकांश उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों-नवउपनिवेशों में जारी राष्ट्रीय मुक्तियुद्धों के लिए पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभाई। लोकयुद्धों की विजय ने उपनिवेशवाद के दौर को सदा के लिए इतिहास की कचरा पेटी के हवाले कर दिया। जनज्वार ने विश्व-स्तर पर साम्राज्यवाद को पीछे हटने और लूट की नई रणनीति विकसित करने के लिए विवश कर दिया।

तब से लेकर आज तक एक लम्बा समय बीत चुका है। सोवियत संघ और चीन में प्रगति, न्याय, समता और स्वतंत्रता के नये कीर्तिमान स्थापित करने वाली हमारी सदी की दोनों महानतम क्रान्तियां मानवता को बहुत कुछ दे चुकने के बाद पराजित हो चुकी हैं। 1976 में **माओ त्से-तुङ** की मृत्यु के बाद चीन में सत्तासीन पूंजीवादी पथगामी ''बाजार-समाजवाद'' के नाम पर पूंजीवाद को अब मुकम्मल तौर पर बहाल कर चुके हैं। इस उल्टी लहर का असर पूरी दुनिया पर हुआ है। मेहनतकश अवाम के खिलाफ दुनिया भर के पूंजीपतियों ने अपनी पूंजी की ताकत और आर्थिक नीतियों से तो चौतरफा हमला बोला ही है, विचार और संस्कृति के स्तर पर भी वे हावी होकर लड़ रहे हैं। मेहनतकश जनता से अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों की स्मृतियों को, समतामूलक भविष्य के स्वप्नों को और समाजवादी परियोजनाओं को छीनने की हर चन्द कोशिशें की जा रही हैं। क्रान्ति की धारा पर प्रतिक्रान्ति की धारा पूरी तरह हावी दीख रही है। लोगों को यकीन दिलाने की कोशिश की जा रही है कि पूंजीवाद ही मानव-इतिहास के विकास की आखिरी मंजिल है।

लेकिन इस कठिन समय में भी ऐतिहासिक सच्चाई पूंजीवादी दुनिया के सिर चढ़कर बोल रही है। पूंजी के भूमण्डलीकरण के नये साम्राज्यवादी दौर में श्रमजीवी वर्गों पर तरह-तरह से लूट-खसोट और तबाही-बर्बादी का जो कहर पूरी दुनिया में—और खास तौर पर गरीब मुल्कों में ढाया जा रहा है, वह भारत में भी अब एकदम खुले रूप में दीखने लगा है। जनता को यह भरोसा दिलाना कठिन है कि चरम विषमता, अन्याय, लूटपाट और असुरक्षा से भरी यह दुनिया ही इतिहास के हजारों वर्षों की विकास-यात्रा की आखिरी मंजिल है। साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के खिलाफ असंतोष जगह-जगह विद्रोह की शक्ल में भड़क रहा है—न सिर्फ लातिन अमेरिका, एशिया और अफ्रीका के देशों में, बल्कि यूरोप, अमेरिका और जापान में भी छंटनी और बेरोजगारी के खिलाफ मजदूरों और छात्रों के आन्दोलन लगातार जारी हैं। **विश्व-स्तर पर वर्ग-संघर्ष एक नये उभार की ओर बढ़ रहा है। जहां सन्नाटा है, वहां और भी प्रचण्ड तूफान के आसार हैं। यदि कोई ठहराव है तो वह वैचारिक-राजनीतिक-सांगठनिक नेतृत्व के स्तर पर है।** सर्वहारा क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्तियां सभी जगह फिलहाल बिखरी हुई हैं। **एक** तो यह विगत सर्वहारा क्रान्तियों की पराजयों का प्रभाव है। **दूसरे**, विश्व पूंजी के चौतरफा हमले का फौरी नतीजा है। **तीसरे**, पूंजीवादी दुनिया के नये बदलावों का अध्ययन करके नये दौर की नई क्रान्तियों की प्रकृति और रास्ते की समझ बनाने की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है। जो भी हो, इस प्रक्रिया को आगे बढ़ना ही है। यह इतिहास का नियम है। सर्वहारा क्रान्तियों के नये संस्करण होंगे ही।

आज के कठिन समय में सर्वहारा विचारधारा और अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों के अनुभवों एवं उपलब्धियों से व्यापक मेहनतकश अवाम को परिचित कराना भी क्रान्तिकारी नेतृत्व की एक अहम जिम्मेदारी है। लोगों को यह बताना होगा कि रसातल के निवासियों द्वारा स्वर्ग पर धावा मारना संभव है और अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों ने इसे सिद्ध भी कर दिखाया था। चीनी क्रान्ति के अर्द्धशती वर्ष का आज हमारे लिए यही महत्व और यही प्रासंगिकता है।

''चीनी जनता उठ खड़ी हुई है,'' आज से पचास वर्ष पहले। अक्टूबर, 1949 को राजधानी पेइचिङ के केन्द्र में स्थित तिएन एन मेन चौक में लहराते विशाल जनसमुद्र के समक्ष इसी उद्घोष के साथ **माओ त्से-तुङ** ने **चीनी लोक गणराज्य** की स्थापना की घोषणा की थी। **आज दुनिया भर के सर्वहारा क्रान्तिकारियों का यह दायित्व है कि वे इतिहास की उस महाकाव्यात्मक समर-गाथा और शौर्यपूर्ण विजय को न सिर्फ याद करें बल्कि अकूत कुर्बानियों से हासिल इस महान क्रान्ति की शिक्षाओं को आत्मसात् करें, इनसे व्यापक श्रमजीवी जनगण को परिचित करायें और नई क्रान्तियों के लिए आवश्यक प्रेरणा तथा जरूरी सबक लें।**

एक महान क्रान्ति की रचना-प्रक्रिया : जन्म से लेकर विजय तक

चीन एक शताब्दी से भी कुछ अधिक समय तक साम्राज्यवादी प्रभुत्व और बन्दरबांट का शिकार रहा। पहले से ही मध्यकालीन सामन्ती उत्पीड़न से तबाह और टूटी हुई किसान जनता से साम्राज्यवादी ताकतों ने खून की आखिरी बूंद तक निचोड़ लेने की कोशिश की। 1840 के दशक में ब्रिटेन ने अफीम युद्ध इसलिए छेड़ा कि चीनी अफीम का व्यापार जारी रखें। लाखों चीनी अफीमची हो गये और ब्रिटेन के व्यापारियों-बैंकरों की थैलियां मोटी होती रहीं। साम्राज्यवादियों द्वारा लादी गई असमान सन्धियों और देश के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रत्यक्ष-परोक्ष साम्राज्यवादी प्रभुत्व के चलते चीन की स्वतंत्रता-सम्प्रभुता बस नाम मात्र की ही रह गई थी। देश एक अर्द्धउपनिवेश बन गया था।

डा. सुन यात-सेन के नेतृत्व में हुई 1911 की पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति ने सामन्ती राजतंत्र का तख्ता तो पलट दिया पर यह क्रान्ति अधूरी रही। साम्राज्यवादी षड्यंत्र ने चीन को अलग-अलग युद्ध-सरदारों के प्रभुत्व वाले कई ''राज्यों'' में बांट दिया। चीन के किसान बर्बर सामन्ती उत्पीड़न के शिकार थे। शहरी व्यापारिक और औद्योगिक अर्थव्यवस्था नौकरशाह-दलाल पूंजीपतियों के माध्यम से सीधे साम्राज्यवाद के मातहत थी।

मई, 1919 का महीना चीन के इतिहास का एक नया प्रस्थान बिन्दु सिद्ध हुआ। चीन के छात्रों-युवाओं की भारी आबादी चीन पर विदेशी प्रभुत्व—विशेषकर जापानी प्रभुत्व का विरोध करने के लिए उठ खड़ी हुई। **'4 मई आन्दोलन'** नाम से प्रसिद्ध इस आन्दोलन ने ठहरे हुए चीनी समाज को एकदम आलोड़ित कर दिया। चीन के राजनीतिक-सांस्कृतिक जगत में उथल-पुथल मच गई। क्रान्तिकारी जनवादी विचारों से प्रभावित छात्रों के बीच से आगे बढ़कर कई युवाओं ने बाद में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी क्रान्ति में अग्रणी एवं नेतृत्वकारी भूमिका निभाई।

4 मई आन्दोलन के आसपास ही चीनी क्रान्ति के भावी नेता, युवा माओ त्से-तुङ पहली बार मार्क्सवाद के सम्पर्क में आये। जुलाई, 1919 में उन्होंने हुनान से एक पत्रिका निकालनी शुरू की और 1920 की गर्मियों में क्रान्तिकारी विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने एक सांस्कृतिक अध्ययन सोसाइटी संगठित की। 1920 की शरद में उन्होंने च्याङशा में कम्युनिस्ट ग्रुप कायम किये।

1920 तक, मुख्यतः 1917 की सोवियत समाजवादी क्रान्ति के प्रेरणादायी एवं वैचारिक प्रभाव में, चीनी क्रान्तिकारियों का एक प्रमुख और अग्रणी हिस्सा इस नतीजे पर पहुंच चुका था कि क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिए एक कम्युनिस्ट पार्टी का गठन किया जाना चाहिए और फिर उसके नेतृत्व में प्रतिक्रियावादी सत्ता के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष छेड़ा जाना चाहिए। जुलाई, 1921 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। शुरुआती कुछ वर्षों के दौरान चीनी समाज की प्रकृति और चीनी क्रान्ति के विशिष्ट स्वरूप के बारे में गलत धारणाओं के चलते चीनी कम्युनिस्टों को एक के बाद एक कई हारों का सामना करना पड़ा। क्रान्तिकारी सेनाएं प्रतिक्रियावादी सेनाओं से घिर गईं और उनका अन्त करीब लगने लगा। इस कठिन स्थिति से क्रान्ति को उबारकर आगे बढ़ाने में माओ ने नेतृत्वकारी भूमिका निभाई। उस समय से लेकर 1949 में जनवादी क्रान्ति सम्पन्न होने तक, और फिर आगे समाजवादी निर्माण एवं क्रान्ति के कठिन वर्ग संघर्ष और अनूठे प्रयोगों भरे दौर में, 1976 तक, मृत्युपर्यन्त माओ ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और जनता को नेतृत्व दिया। यही नहीं, चीन की जनवादी क्रान्ति और फिर समाजवादी क्रान्ति के दौर के प्रयोगों—विशेषकर 1966-76 की **सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** के विश्वव्यापी ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए माओ त्से-तुङ को **मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन** और **स्तालिन** के बाद अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के पांचवे शिक्षक और नेता का दर्जा दिया गया। **इतिहास में माओ त्से-तुङ का यह स्थान न सिर्फ हमेशा सुरक्षित रहेगा, बल्कि आने वाली सदी की नई सर्वहारा क्रान्तियां दुनिया के मेहनतकशों को माओ की महान अर्थवत्ता के नये-नये पहलुओं से परिचित करायेंगी।**

माओ त्से-तुङ ने पहली बार यह स्थापना दी कि चीन जैसे बहुसंख्यक किसान आबादी वाले अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक देश में किसान क्रान्ति की मुख्य ताकत होंगे। सर्वहारा वर्ग की भूमिका

(पेज 6 पर जारी)

बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता

(पेज 5 से आगे)

यहां नेतृत्वकारी होगी। उन्होंने **कम्युनिस्ट पार्टी, लाल सेना** और **संयुक्त मोर्चा** को **नवजनवादी क्रान्ति** के तीन चमत्कारी हथियारों की संज्ञा दी। रूसी क्रान्ति के सशस्त्र आम बगावत के रास्ते से अलग माओ ने **दीर्घकालिक लोकयुद्ध** के क्रान्ति मार्ग का राजनीतिक एवं सैनिक सिद्धान्त कठिन क्रान्तिकारी संघर्षों के दौरान विकसित किया। उन्होंने बताया कि चीनी क्रान्ति देहातों में लाल आधारों का निर्माण करके, शहरों को घेरकर और इस प्रकार अंततः पूरे देश में राजनीतिक सत्ता को जीतकर ही विजयी हो सकती है। और अपनी इस प्रस्थापना को उन्होंने व्यवहार में भी सिद्ध कर दिखाया।

1927 में शहरों में प्रतिक्रियावादियों द्वारा लगातार पीछा किये जाने के बाद और च्याङ काइ-शेक की कुओमिन्ताङ पार्टी के प्रतिक्रान्ति- कारियों द्वारा कार्यकर्ताओं के कई कत्लेआमों के बाद चीन के कम्युनिस्ट विशाल देहाती क्षेत्रों में जाकर फैल गये। किसानों को संगठित करके उन्होंने सशक्त लाल सेना और आधार इलाकों का निर्माण किया। बीस वर्षों के दौरान उन्होंने तीन कठिन और महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी युद्ध (**भूमि क्रान्ति**, जापान-विरोधी **प्रतिरोध युद्ध** और अंत में कुओमिन्ताङ-शासकों के विरुद्ध निर्णायक गृहयुद्ध) लड़े।

भूमि क्रान्ति के कठिनतम दौर में प्रतिक्रान्तिकारी सेना की भारी शक्ति से बचने के लिए लाल सेना ने उस ऐतिहासिक '**लम्बे अभियान**' की शुरुआत की, जिसकी अतुलनीय शौर्य-गाथा पर दुनिया दंग रह गई। अक्टूबर, 1934 में शुरू हुए इस महा अभियान के दौरान लाल सेना ने प्रतिदिन शत्रुओं से लोहा लेते हुए 6,000 मील की यात्रा 12 प्रांतों, 18 पहाड़ों और 24 नदियों को पार करते हुए 13 महीनों में पूरी की। 1,60,000 लोगों में से सिर्फ 8,000 लोग ही शान्सी पहुंचने तक बचे रहे। पर यह अकूत कुर्बानी रंग लाई। 'लम्बे अभियान' ने क्रान्ति के अग्निमुखी बीज पूरे देश के किसानों में बो दिये। माओ की भविष्यवाणी को चरितार्थ करती हुई करोड़ों किसान जनता एक प्रचण्ड, अदम्य तूफान की तरह उठ खड़ी हुई। जापानी साम्राज्यवादियों को धूल चटाने के साथ ही अमेरिकी साम्राज्यवाद समर्थित च्याङ काइ शेक को हराकर। अक्टूबर, 1949 को (ताइवान, हाङकाङ और मकाओ को छोड़कर) पूरे चीन को लाल कर देने का सपना साकार हो गया।

1949 के बाद : चीनी क्रान्ति की उत्तरकथा—एक और नये लम्बे अभियान की शुरुआत

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों और नवउपनिवेशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति-युद्धों को प्रेरणा और दिशा देने में 1949 की चीनी जनवादी क्रान्ति ने महती भूमिका निभाई। कोरिया, वियतनाम आदि देशों में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में सम्पन्न जनवादी क्रान्तियों का रास्ता मूलतः चीनी क्रान्ति का ही रास्ता था। अफ्रीकी देशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों ने भी चीनी रास्ते से बहुमूल्य सबक लेकर उपनिवेशवाद को पराजित करने में सफलता पाई।

चीन लोक गणराज्य की स्थापना के बाद माओ ने कहा था, "**देशव्यापी स्तर पर जीत हासिल करना दस हजार ली लम्बे अभियान का पहला कदम मात्र है। चीनी क्रान्ति महान है, लेकिन क्रान्ति के बाद का रास्ता तथा कार्य अधिक महान एवं अधिक कठिन है।**"

इन शब्दों में क्रान्ति का स्वागत करते हुए माओ ने एक बेहद पिछड़े देश को समाजवाद के प्रकाश स्तम्भ और विश्व क्रान्ति के आधार-क्षेत्र में रूपान्तरित कर देने के लिए चीनी के सर्वहारा वर्ग और व्यापक जनता को तैयार किया। लोक युद्ध के लम्बे वर्षों और आधार क्षेत्रों में व्यवस्था-संचालन के अनुभवों ने इस नई यात्रा में काफी मदद की। **मानव इतिहास में सबसे बड़े पैमाने पर भूमि के पुनर्वितरण** और विदेशी तथा दलाल पूंजीपतियों के कारखानों एवं पूंजी के राष्ट्रीकरण के साथ-साथ स्त्रियों को पूरी समानता देने सहित सामाजिक जीवन में भी अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। करोड़ों-करोड़ सोई हुई आबादी की असीम सर्जनात्मकता और पहलकदमी निर्बन्ध हो गई और बिना विदेशी मदद या पूंजी के, आम लोगों की पहलकदमी के आधार पर निर्माण एवं विकास की ऐसी व्यापक एवं विराट परियोजनाओं को अंजाम दिया गया जो लोकयुद्ध के लम्बे दौर से किसी भी मायने में कम शौर्यपूर्ण नहीं थीं।

नवजनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने के साथ ही माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में चीन की पार्टी और जनता समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देने में—एक ऐसी आत्मनिर्भर समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण में जुट गई जो विश्व साम्राज्यवादी बाजार की दमघोंटू और विकलांग बना देने वाली जकड़बंदी से मुक्त हो। और जल्दी ही दुनिया ने यह चमत्कार भी घटित होते देखा। **पचास के दशक** में चीन की मेहनतकश आबादी के श्रम को प्रकृति के आगे एक अप्रतिरोध्य विराट **शक्ति** के रूप में सृजनशील और उत्पादक बनाकर अकाल, भुखमरी, बीमारियों अशिक्षा और पिछड़ेपन के लिए प्रसिद्ध देश का कायापलट कर दिया गया। **दस वर्षों के भीतर बेरोजगारी** का खात्मा हो गया। गांवों से लेकर शहरों तक स्त्रियों की भारी आबादी चूल्हे-चौकठ से बाहर आकर कम्यूनों में सामाजिक उत्पादन से लेकर प्रबंधन एवं राजनीति तक के कामों में शिरकत करने लगी। स्वास्थ्य और शिक्षा की सेवाएं **सर्वसुलभ** हो गई। वेश्यावृत्ति, नशाखोरी, जुआ, बाल मजदूरी, भुखमरी आदि का नामोनिशान तक मिट गया। तूफानी नदियों को बांधकर विनाशकारी बाढ़ों को समाप्त कर दिया गया और नहरों का जाल बिछाकर सिंचाई सुविधाओं का तेज विस्तार किया गया। उत्पादन-टीमों, ब्रिगेडों और कम्यूनों ने दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में भी उपजाऊ सीढ़ीदार खेत बना डाले और सभी तरह की ऊसर-बंजर धरती को अन्नपूर्णा बना दिया गया। सड़कों-रेलमार्गों-पुलों का अभूतपूर्व तेज गति से विकास हुआ। 1960 तक चीन बिजली और लोहा सहित तमाम बुनियादी और ढांचागत उद्योगों का अपना ताना बाना खड़ा कर चुका था। चीन की यात्रा करने वाले पश्चिमी बुद्धिजीवियों-पत्रकारों ने इन चमत्कारी उपलब्धियों को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया, यहां तक कि कम्युनिज्म से नफरत करने वालों ने भी। 1958 में '**महान अग्रवर्ती छलांग**' के बाद कृषि के सामूहिकीकरण ने और अधिक तेज गति पकड़ी। **कम्यूनों के निर्माण ने समाजवादी निर्माण का एक नया पथ आलोकित किया।**

एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि माओ के नेतृत्व में चीन की समाजवादी क्रान्ति ने विकास का जो मार्ग पकड़ा, उसमें गांव और शहर, कृषि और उद्योग के विकास पर समान बल दिया और इन दोनों के बीच के अन्तर को समाप्त करने पर लगातार ध्यान दिया गया। समाजवादी निर्माण के रूसी अनुभव की खूबियों के साथ-साथ कमियों से भी सीखते हुए माओ ने उद्योगों के विकास के लिए कृषि से पूंजी उगाहने के बजाय कृषि के विकास को औद्योगिक विकास का आधार बनाया और समाजवादी क्रान्ति के दौर के नये, मजबूत मजदूर-किसान संश्रय की आधारशिला रखी।

एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि चीन में समाजवादी निर्माण के केन्द्रीय कारक हर हमेशा मशीन या तकनीक को नहीं बल्कि जनता को माना गया। यही कारण था कि रूस में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बाद जब हर तरह की सोवियत सहायता का करार तोड़कर खुश्चेव-गिरोह ने विश्वासघात किया तो भी चीन में समाजवादी निर्माण-कार्य जनता की श्रमशक्ति और सर्जनात्मकता के बूते पर लगातार जारी रहा।

एक तीसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि माओ त्से-तुङ ने सर्वहारा अधिनायकत्व के अतिकेन्द्रीकृत रूप के बजाय जनता की चेतना उन्नत होते जाने के साथ-साथ निर्णय की प्रक्रिया में उसकी भागीदारी बढ़ाते हुए सर्वहारा **सत्ता** के जनाधार को लगातार विस्तारित करने पर जोर दिया। ग्रास रूट स्तर पर कम्यून उत्पादक जनता को शासन सूत्र सम्हालना सिखाने की पाठशाला और प्रयोगशाला बन गये। साथ ही, कारखानों और अन्य उपक्रमों में एक सदस्यीय कमेटियों के जरिए विशेषज्ञों और नौकरशाहों के मैनेजमेण्ट का स्थान मजदूरों की क्रान्तिकारी कमेटियों ने ले लिया। समाजवादी उत्पादक उपक्रमों के नये मॉडल—कृषि के क्षेत्र में ताचाई और उद्योग के क्षेत्र में ताचिङ—के निर्माण हुए जिन्होंने उत्पादन के नये कीर्तिमान स्थापित किये।

चीनी क्रान्ति की एक ऐतिहासिक विशिष्टता यह थी कि माओ त्से-तुङ ने अर्थनीति पर राजनीति की सर्वोपरिता पर हमेशा जोर दिया। उन्होंने बार-बार जोर दिया कि समाजवादी संक्रमण की कुंजीभूत कड़ी भी वर्ग-संघर्ष ही है, क्योंकि समाजवाद के पूरे दौर में पुराने बुर्जुआ वर्ग मौजूद रहते हैं और अभी भी मौजूद तमाम आर्थिक- सामाजिक-सांस्कृतिक विभेदों के दरारों-कोनों-अंतरों के बीच से, पुराने सांस्कृतिक-सामाजिक ढांचों के अवशेषों के बीच से नये बुर्जुआ तत्व भी पैदा होते रहते हैं। यदि इनके विरुद्ध चौतरफा वर्ग-संघर्ष चलाये बिना सिर्फ तकनीकी-भौतिक प्रगति व उत्पादन वृद्धि पर ही जोर दिया गया तो नया बुर्जुआ वर्ग मजबूत होकर सत्ता पर काबिज हो जायेगा और समाजवादी विकास को पूंजीवादी विकास में तब्दील कर देगा।

माओ इस नतीजे पर एक दिन में नहीं पहुंचे। एक तो उन्हें अपने देश में 1949 के बाद से ही पार्टी के भीतर ऐसे गुट के विरुद्ध लगातार संघर्ष करना पड़ा था जो जनवादी क्रान्ति के बाद समाजवादी रूपान्तरण को आगे बढ़ाने के बजाय किसी न किसी तरह से विकास को पूंजीवादी दिशा में मोड़ देना चाहते थे। ऐसे लोग **ल्यू शाओ-ची, देङ सियाओ-पिङ** आदि थे, जो समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की सच्चाई से इनकार करते हुए केवल उत्पादक शक्तियों के विकास की बात करते थे। ये लोग जनता के बजाय तकनीक को, नौकरशाही प्रबंधन को और सोवियत सहायता को विकास की बुनियादी शर्त मानते थे। ये लोग कम्यूनों के निर्माण तथा समाजवादी शिक्षा एवं संस्कृति के निर्माण के विभिन्न आन्दोलनों का अंदर ही अंदर विरोध करते थे। उद्योगों के विकास के लिए कृषि से पूंजी उगाहकर गांव और शहर का अंतर बढ़ाने के साथ ही ये लोग मध्य वर्ग को खुश रखने के नाम पर वेतनों की असमानता तथा मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के अंतर को कम नहीं करना चाहते थे तथा अनेक तरह से माल-उत्पादन और बाजार तंत्र के आधार को सिकोड़ते जाने के बजाय उसे बनाये रखने की पैरवी करते थे।

अपने देश और अपनी पार्टी के भीतर ऐसे पूंजीवादी पथगामियों से संघर्ष करने के साथ ही माओ ने सोवियत संघ में समाजवाद की पराजय और खुश्चेव के नेतृत्व में नई पूंजीवादी सत्ता की स्थापना का भी गहन विश्लेषण किया और इसे समझने के बाद उन्होंने रूसी पार्टी के खिलाफ '**महान बहस**' चलाकर विश्व सर्वहारा क्रान्ति के प्रति अपने अन्तरराष्ट्रीयतावादी दायित्वों का तो निर्वाह किया ही, अपने देश में भी समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाने के बारे में वे ऐतिहासिक महत्व वाले नतीजों की दिशा में आगे बढ़ चले। इसी का नतीजा थी—**1966 में शुरू हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति जो न केवल चीनी क्रान्ति की यात्रा का बल्कि विश्व सर्वहारा क्रान्ति की यात्रा का अब तक का अग्रतम मील का पत्थर है।**

सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष को जारी रखने की आम दिशा और उसके मार्ग की जो आम रूपरेखा प्रस्तुत की वह पूरी दुनिया के सभी देशों के लिए तबतक प्रासंगिक रहेगी जबतक कि मानवता कम्युनिज्म की मंजिल में प्रविष्ट नहीं हो जाती।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान इस बात को और अधिक ठोस रूप में स्पष्ट किया गया कि समाजवादी समाज में वर्ग मौजूद रहते हैं और वर्ग-संघर्ष लगातार जटिल और विकट रूप में जारी रहता है। बुर्जुआ वर्ग को धीरे-धीरे आगे बढ़कर फिर से सत्ता हथिया लेने से रोकने के लिए उसपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करना होगा और उसके खिलाफ क्रान्ति को सतत् जारी रखना होगा जो सामान्य गति से चलते-चलते बीच-बीच में प्रचण्ड तूफान का—आर-पार की लड़ाई की शक्ल लेता रहेगा। इन तूफानों के दौरान व्यापक जनता सर्वहारा क्रान्तिकारियों की अगुवाई में आगे बढ़कर पार्टी और राज्य के भीतर पनपे बुर्जुआ हेडक्वार्टरों को नष्ट करती रहेगी और आगे के उन्नत स्तर के संघर्ष व समाजवादी निर्माण के लिए पार्टी व राज्य को तैयार करती रहेगी। पूंजीवादी पुनर्स्थापना के भौतिक अधिकार के समूल नाश के लिए बुर्जुआ अधिकारों, भौतिक प्रोत्साहन (लालच देकर काम कराना) और हर तरह की असमानता को कम करते जाना तथा माल-उत्पादन को क्रमशः समाप्त करते जाने के साथ ही माओ ने शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, कला, सामाजिक आचार-व्यवहार-संस्था-संस्कार आदि अधिरचना (ऊपरी ढांचा) के सभी अंगों के सतत् क्रान्तिकारीकरण को अपरिहार्य बताया।

चीन में 1966 से 1976 तक जारी सांस्कृतिक क्रान्ति ने न केवल चीन में समाजवाद के विकास को ऊंची छलांगें दीं, बल्कि पूरी दुनिया के सर्वहारा क्रान्तिकारियों को संशोधनवाद और साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए नई प्रेरणा, नई युयुत्सा (लड़ने की चाहत), नई ऊर्जा और नई दिशा देने का काम किया। गौरतलब बात है कि आज तमाम बिखराव-ठहराव के बावजूद पूरी दुनिया में जिन हजारों कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों ने सर्वहारा क्रान्ति की मशालें जलाये रखी हैं, इनमें से अधिकांश सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रभाव में, संशोधनवादी पार्टियों के नेतृत्व से लड़कर आज से 25-30 वर्षों पूर्व अस्तित्व में आये थे।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, **वर्ग-संघर्ष, उत्पादन के लिए संघर्ष और वैज्ञानिक प्रयोग**—इन तीन महान आन्दोलनों ने जन-समुदाय को झकझोरकर उसे सर्जनात्मकता और उत्साह का हिमालय पर्वत और प्रशान्त महासागर बना दिया। उत्पादन के ऐसे उपक्रम और उत्पादन-वृद्धि की ऐसी दर दुनिया ने देखी, जो पहले कभी नहीं देखी-सुनी गई थी। साथ ही समता, न्याय और समाजवादी मूल्यों के भी सर्वथा नये स्तर व रूप अस्तित्व में आये। 1970 के दशक में जब आर्थिक संकट के झकोरे पूंजीवादी दुनिया के शिखर से लेकर रसातल तक को झिंझोड़ रहे थे, उससमय चीनी अर्थव्यवस्था मंदी, मुद्रास्फीति, महंगाई आदि से पूरी तरह अछूती थी और चीन दुनिया का एकमात्र ऐसा देश था जो आन्तरिक और विदेशी कर्जों से पूरी तरह मुक्त था।

1949 की नवजनवादी क्रान्ति के बाद चीन में समाजवादी क्रान्ति की यात्रा 27 वर्षों तक जारी रही। 1976 में, सांस्कृतिक क्रान्ति के दस वर्षों के युगान्तरकारी प्रयोग के बावजूद, माओ की मृत्यु के बाद वहां सर्वहारा क्रान्तिकारी पराजित हो गये और सत्तासीन पूंजीवादी पथगामियों ने समाजवाद की समस्त प्रगति को आधार बनाकर पूंजीवादी विकास को तेज गति से आगे बढ़ाया। प्रति व्यक्ति औसत आय, सकल घरेलू उत्पाद, औद्योगिक विकास-दर, पूंजी-निवेश आदि बुर्जुआ मानदण्डों से आज भी चीनी अर्थव्यवस्था दुनिया में सबसे अधिक तेज गति से विकसित हो रही है, पर व्यापक मेहनतकश जनता के लिए यह विकास नहीं, विनाश है। पिछले 23 वर्षों के भीतर चीन में धनी-गरीब के बीच की खाई भी अभूतपूर्व गति से बढ़ी है। बेरोजगारों की संख्या कई करोड़ हो चुकी है। कम्यूनों को तोड़ दिया गया है। निजी स्वामित्व की अनेक रूपों में बहाली जारी है। विदेशी पूंजी और संस्कृति के लिए देश के दरवाजों को एकदम खोल दिया गया है और चीनी जनता के श्रम से मुनाफा निचोड़कर पश्चिम अपने संकट का बोझ हल्का कर रहा है। आज के चीन में तमाम पुरानी सामाजिक बुराइयां वापस लौट आई हैं, जैसे वेश्यावृत्ति, भीख मांगना, घूसखोरी, चोरी, तरह-तरह के भ्रष्टाचार और नारी-विरोधी अपराध। स्त्रियों को आर्थिक-सामाजिक गतिविधियों से अलग करके फिर घर की चारदिवारी में कैद किया जा रहा है या उनसे बहुत कम तनख्वाह में काम कराये जा रहे हैं। ग्रामीण इलाकों में कन्या-शिशुओं और भ्रूणों की हत्या भी की जा रही है। कहावत है कि जब प्रेत आयेगा तो श्मशान के सभी साथियों को साथ लायेगा। पूंजीवादी विकास इन बुराइयों के साथ ही होगा, चाहे वह "बाजार समाजवाद" के नाम पर ही क्यों न हो!

चीन में क्रान्ति की यह हार चीनी जनता और पूरी दुनिया के सर्वहारा वर्ग के लिए एक भारी धक्का तो है, पर यह इतिहास का अंत नहीं है। इतिहास का रास्ता ही कुछ ऐसा होता है—चढ़ावों-उतारों से भरा हुआ। अक्सर ऐसा होता रहा है कि रास्ता खोजने वाली महान क्रान्तियां हारती रही हैं और आगे की मुकम्मिल विजयी क्रान्तियों के लिए आधार तैयार करती रही हैं। आज की संकटग्रस्त, आक्रामक और मेहनतकश अवाम पर कहर बरपा करने वाली साम्राज्यवादी दुनिया फिर सर्वहारा वर्ग को आमंत्रण दे रही है कि वह उस पर टूट पड़े और इस बार उसकी कब्र जरा गहरी खोदे। सर्वहारा क्रान्तियों के नये चक्र के लिए—इक्कीसवीं सदी के सर्वहारा योद्धाओं के लिए बीसवीं सदी की दोनों महानतम क्रान्तियों—सोवियत क्रान्ति और चीनी क्रान्ति की शिक्षाएं बहुमूल्य होंगी, ये शिक्षाएं उनका हथियार होंगी।

चीन में पूंजीवादी पुनर्स्थापना क्रान्ति को लगातार जारी रखने की माओ की शिक्षा को ही एक बार फिर सत्यापित करती है।

तीसरी दुनिया के देशों में नई सर्वहारा क्रान्तियों के स्वरूप और रास्ते का सवाल तथा चीनी लोक जनवादी क्रान्ति के अनुभवों की प्रासंगिकता

1949 की चीनी नवजनवादी क्रान्ति की पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर इसकी विरासत, अवदानों और शिक्षा की चर्चा करते हुए हमने इस निबन्ध में 1949 के बाद की उस यात्रा की भी संक्षिप्त चर्चा की है जो समाजवादी क्रान्ति के रूप में 1976 तक जारी रही। ऐसा इसलिए कि चीनी क्रान्ति की 1949 के पहले की यात्रा को 1949 के बाद की यात्रा से काटकर अलग नहीं किया जा सकता। 1949 में राज्यसत्ता हासिल करने तक की यात्रा चीनी क्रान्ति की उपलब्धि का पूर्वपक्ष था और उसके बाद की यात्रा उसका उत्तर-पक्ष।

समाजवादी संक्रमण के दौरान चीन में जो युगान्तरकारी प्रयोग हुए और खासकर संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष तथा पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने के सम्बन्ध में जो अनुभव अर्जित हुए, वे विश्व सर्वहारा के लिए बहुमूल्य खजाना हैं, यह निर्विवाद है। लेकिन भारत और तीसरी दुनिया के देशों में विगत लगभग आधी सदी के दौरान शासक वर्ग और उनकी राज्यसत्ता तथा शोषण-उत्पीड़न के तौर-तरीकों और सामाजिक-राजनीतिक ढांचे में जो महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं, उन्हें देखते हुए यह सवाल उठता है कि **क्या आज की साम्राज्यवादी दुनिया की "कमजोर कड़ियों" में सम्भावित भावी सर्वहारा क्रान्तियों के लिए चीन की 1949 तक की नई जनवादी क्रान्ति की रणनीति, आम रणकौशल और क्रान्ति के रास्ते से कोई सबक नहीं निकलता? क्या भावी सर्वहारा क्रान्तियों के लिए, सीखने की दृष्टि से 1949 की नई जनवादी क्रान्ति अप्रासंगिक हो चुकी है?**

हमारी दृष्टि में ऐसा नहीं है। यह सही है कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की आधी सदी में दुनिया में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित हुए हैं। अलग-अलग देशों की विशिष्टता को छोड़कर यदि विकास की आम दिशा की संक्षिप्त चर्चा करें तो चन्द बदलावों को सूत्रवत् रेखांकित किया जा सकता है। उपनिवेशवाद और (कुछ थोड़े से देशों को छोड़कर) नवउपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद तीसरी दुनिया के देशों में जो बुर्जुआ वर्ग सत्तासीन हुआ, उसने कहीं एकदम क्रमिक प्रतिक्रियावादी ढंग से, तो कहीं थोड़े "रैडिकल" ढंग से सामन्ती-अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों को समाप्त करके उनकी जगह पूंजीवादी भूमि-सम्बन्ध स्थापित कर दिये हैं और गांवों को राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय बाजार का अंग बना दिया है। फलतः गांवों में (सामन्ती अवशेषों के कुछ इलाकों को छोड़कर) भी विभिन्न रूपों में पूंजी और श्रम के अन्तरविरोध ही बुनियादी अन्तरविरोध हैं। सत्तासीन देशी पूंजीपति वर्ग सभी पिछड़े देशों में साम्राज्यवादी शोषण को बनाये रखने में सहायक बना रहा। शुरुआती दौर में, वह एक हद तक अपनी सीमित आजादी के आधार का विस्तार करने में सफल रहा, पर साम्राज्यवाद के वर्तमान दौर में उसने भूमण्डलीकृत पूंजी के लिए अर्थव्यवस्था के दरवाजों को पूरी तरह खोल दिया है और पूरी तरह से साम्राज्यवादियों का 'जूनियर पार्टनर' बन गया है। आपसी अन्तरविरोधों के बावजूद पूंजीपतियों के किसी भी हिस्से की भूमिका आज क्रान्तिकारी नहीं है। यानी तीसरी दुनिया के अधिकांश देश आज मूलतः साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी क्रान्ति—एक नये प्रकार की समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में खड़े हैं। धनी किसान और राष्ट्रीय पूंजीपति अब क्रान्ति के मित्र नहीं रह गये हैं। क्रान्ति का संयुक्त मोर्चा तीन वर्गों का ही बन रहा है। दूसरी बात यह कि पूंजीवादी विकास ने केन्द्रीय राज्यसत्ता की पहुंच को सुदूर क्षेत्रों तक इतना विस्तारित कर दिया है कि दीर्घकालिक लोकयुद्ध के जरिए—गांवों में आधार-क्षेत्र बनाकर और गांवों से शहरों को घेरने की सामरिक नीति भी आज सम्भव नहीं है। आज की स्थिति में क्रान्ति का रास्ता आम बगावत का ही हो सकता है।

फिर भी चीन की नवजनवादी क्रान्ति की रणनीति-रणकौशल और दीर्घकालिक लोकयुद्ध की प्रासंगिकता एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिकी देशों की नई समाजवादी क्रान्तियों के लिए अभी भी काफी हद तक बनी हुई है। **इसका बुनियादी कारण यह है कि** विकसित पूंजीवादी देशों की समाजवादी क्रान्तियों की अपेक्षा पिछड़े पूंजीवादी देशों की समाजवादी क्रान्तियों में किसान आबादी और गांवों की भूमिका बहुत अधिक होगी। इन देशों में आबादी का बहुलांश अभी भी गांवों में रहता है और गांवों में कृषि सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा के साथ-साथ मध्यम किसानों की आबादी काफी है, जो पूंजीवादी तबाही के चलते क्रान्ति का साथ तो देंगे पर सामूहिकीकरण के नारे को हिचकिचाते हुए धीरे-धीरे ही अपनायेंगे। शुरू में वे कृषि सहकारिता के प्रोग्राम को ही स्वीकार करेंगे। यही नहीं, ऐसे देशों के कई ग्रामीण क्षेत्रों में शुरू में जमीन का वितरण भी करना पड़ेगा। इस भारी किसान आबादी को सर्वहारा क्रान्ति के साथ खड़ा करने की समस्या अमेरिका-यूरोप में तो नहीं है, पर तीसरी दुनिया के देशों में है और इस हद तक चीनी क्रान्ति के अनुभव इन देशों की समाजवादी क्रान्तियों के लिए उपयोगी बने रहेंगे। मध्यम किसान को साथ लेने और मुख्यतः गरीब किसानों व खेतिहर सर्वहारा पर निर्भर करने की नीति अपनाने में, तथा मजदूर-किसान संश्रय बनाने में रणनीतिक नारों की भिन्नता के बावजूद चीनी क्रान्ति के अनुभव आज भी उपयोगी हैं।

इसी प्रकार, यह तो सही है कि आज पिछड़े देशों में भी क्रान्ति का रास्ता आम बगावत का रास्ता होगा और गांवों में मुक्त क्षेत्र बनाने की समर-नीति आज कारगर नहीं हो सकती। लेकिन पिछड़े देशों की क्रान्तियों में अभी भी महज शहरी आम बगावतें कारगर नहीं हो सकतीं। गांवों का महत्व अभी भी बना हुआ है। क्रान्तिकारी शक्तियों को किसानों में व्यापक समर्थन-आधार तैयार करना पड़ेगा और मुक्त क्षेत्र तो नहीं, लेकिन सीमित स्तर पर छापामार कार्रवाइयों के इलाके विकसित करने पड़ेंगे। साथ ही, तीसरी दुनिया के बहुराष्ट्रीय देशों में परिधि की जिन राष्ट्रीयताओं के मुक्ति के संघर्षों का भविष्य समाजवादी क्रान्ति के साथ जुड़ चुका है, उन्हें अपने सशस्त्र संघर्ष विकसित करने में चीनी दीर्घकालिक लोकयुद्ध से अभी भी काफी कुछ चीजें सीखनी और अपनानी होंगी। यह अपने आप में काफी विस्तृत और उपयोगी चर्चा है, पर इस लेख की सीमा में यहां इतना ही उल्लेख सम्भव है।

चीनी क्रान्ति की कुछ बहुमूल्य शिक्षाएं

क्रान्ति की मंजिल और मार्ग की विशिष्टताओं की चर्चा छोड़ भी दें, तो चीनी नवजनवादी क्रान्ति के इतिहास की कुछ ऐसी आम शिक्षाएं हैं, जिनकी प्रासंगिकता भावी सर्वहारा क्रान्तियों और सर्वहारा क्रान्तिकारियों की भावी पीढ़ियों के लिए हर-हमेशा बनी रहेगी।

(1) चीनी क्रान्ति के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि **चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की सफलता की पहली कुंजी यह थी कि उसने हर-हमेशा क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू किया।** चीनी क्रान्ति के नेता माओ ने वहां के कम्युनिस्टों को हमेशा जनता पर भरोसा करने, जनता से सीखने, जनता की रोजमर्रा की जिन्दगी और संघर्षों से एकरूप होकर फिर उसका राजनीतिक शिक्षक और नेता बनने तथा जीवनपर्यन्त जनता की सेवा करने की स्पिरिट को बनाये रखने की शिक्षा दी। माओ का समूचा लेखन ऐसी शिक्षाओं से भरा पड़ा है। एक ओर पुस्तक-पूजा और दुस्साहसवाद तथा दूसरी ओर बौद्ध भिक्षुओं की तरह घण्टा डोलाने की रुटीनी कार्रवाइयों और जनता की पिछड़ी चेतना के पिछलग्गू बनकर संशोधनवाद के गर्त में जा गिरने के खिलाफ माओ क्रान्तिकारियों को हमेशा ही चेताते रहते थे।

जनता की असीम क्रान्तिकारी क्षमता और सर्जनात्मकता में जिस भरोसे ने 1949 के पूर्व 'लम्बे अभियान' और येनान के आधार-क्षेत्र के प्रयोगों को सम्भव बनाया, उसी के चलते 1949 के बाद कम्यूनों का निर्माण और 'महान अग्रवर्ती छलांग' और फिर 'सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के महान प्रयोग सम्भव हो सके। तकनीकी कुशलता, बाहरी मदद, अनुभवी नेतृत्व या बेहतर योजना के बजाय माओ ने हर प्रयोग की सफलता की बुनियादी गारण्टी जनता की सर्जनात्मकता और पहलकदमी को जागृत करने को माना।

पार्टी और (1949 के बाद) राज्य मशीनरी में माओ ने जब जनवाद के आधार और केन्द्रीयता को नेतृत्वकारी शक्ति बताते हुए इनके द्वंद्वात्मक सम्बन्धों का नया निरूपण प्रस्तुत किया और नीचे से लेकर ऊपर तक, विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में जब इसे प्रयोग में उतारने की कोशिश की तो इसके पीछे भी उनकी जनदिशा-सम्बन्धी वही सोच काम कर रही थी जिस पर वे जीवनपर्यन्त अविचल रहे।

(2) चीनी क्रान्ति के इतिहास में चीनी पार्टी और उसके नेतृत्व की एक दूसरी विशिष्टता जो सीखने के नजरिये से महत्वपूर्ण है वह यह कि **उन्होंने ठोस विश्लेषण और ठोस कामों में भौतिकवादी द्वंद्ववादी पद्धति को सही ढंग से लागू किया।** अक्सर ऐसा होता है कि बुर्जुआ शिक्षा व तर्क प्रणाली के प्रभाव और मध्यमवर्गीय भटकाव के चलते कम्युनिस्टों के लिए द्वंद्ववाद तोतारटन्त बन जाता है पर जब अमल की बात आती है तो वे चीजों की द्वंद्ववादी नहीं बल्कि अनुभवसिद्ध आलोचना प्रस्तुत करते हैं तथा कार्यभार निकालते और लागू करते समय "सामान्य बुद्धि" (कामन सेन्स) से ही काम चलाते हुए अधिभौतिकता के दलदल में जा गिरते हैं। माओ ने वर्ग-विश्लेषण करते समय या क्रान्ति का कार्यभार निरूपित करते समय ही नहीं, क्रान्तिकारी जीवन की दैनन्दिन कार्रवाइयों में भी द्वंद्ववाद को लागू करने की व्यावहारिक शिक्षा पर जो जोर दिया, वह चीनी क्रान्ति की सफलता की एक बुनियादी गारण्टी सिद्ध हुई।

(3) चीनी क्रान्ति और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के महान नेता और शिक्षक माओ त्से-तुङ ने कार्य प्रणाली सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण शिक्षा पर हमेशा ही बहुत अधिक जोर दिया जो मूलतः उनकी त्रुटिहीन भौतिकवादी विश्वदृष्टि का ही अमली रूप था। **उनकी यह बुनियादी शिक्षा थी—ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण।** किसी भी क्षेत्र में, किसी भी मोर्चे पर, किसी भी दौर में हमारे कामों की शुरुआत कहां से होनी चाहिए?—**निस्संदेह जांच-पड़ताल से**—माओ का कहना था! ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण पर इसी जोर के चलते, एक बेहद पिछड़े देश में अपेक्षतया कमजोर बुनियाद पर शुरुआत करके भी चीन की पार्टी ने अपने देश की क्रान्ति के स्वरूप और रास्ते की अपनी समझ विकसित की और 1949 में नई जनवादी क्रान्ति को सफलतापूर्वक सम्पन्न करके पूरी दुनिया के राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों को राह दिखाई। ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण पर जोर के चलते चीन की पार्टी समाजवाद की समस्याओं को समझने और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त एवं व्यवहार तक पहुंचने में सफल हो सकी।

इस प्रसंग के महत्व को एक तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा आसानी से समझा जा सकता है।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना चीन

(पेज 10 पर जारी)

कविता

गरज उठो, ओ चीन!

जिस समय अमेरिका के साम्राज्यवादी हुक्मरान अपने सभी पश्चिमी भाई-बिरादरों की मदद से चीन की विजयोन्मुख क्रान्ति को कुचल देने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक किये हुए थे, ठीक उसी समय एक अमेरिकी अश्वेत कवि ने यह कविता लिखकर चीन की क्रान्तिकारी जनता के साथ अपनी एकजुटता जाहिर की थी। चीन में पैदा हुआ "राष्ट्रवादी" च्याङ काइ-शेक अमेरिकी साम्राज्यवादियों का कुत्ता बना हुआ था और अमेरिकी शोषित-उत्पीड़ित आम आबादी का प्रतिनिधि कवि लैंग्स्टन ह्यूज चीनी जनता के पक्ष में अपनी आवाज बुलन्द कर रहा था और दुनिया भर की क्रान्तिकारी मेहनतकश जनता की संग्रामी एकजुटता को अपनी कविता में चरितार्थ कर रहा था। गायक पॉल रॉबसन की आवाज की तरह लैंग्स्टन ह्यूज की कलम भी अमेरिकी शासकों के मुंह पर हरदम सच्चाई उगलती रही। धमकियों, आतंक, यातना और लालच के द्वारा उसे आखिरी सांस तक खामोश नहीं किया जा सका।— सम्पादक

उन्होंने तुम्हें ठोकरें लगाईं हर रोज
रेडियोफोन के द्वारा, केबुलग्राम के द्वारा,
तुम्हारे बंदरगाह में खड़ी गनबोटों के द्वारा,
मलक्का बेंतों के द्वारा।
सोचा था उन्होंने तुम एक पालतू शेर हो।
एक उनींदे, आसान, पालतू बूढ़े शेर!
हा ! हा !
हा ऽऽऽ !.... हा !
हंसो, शंघाई के जहाजी माल घाट के
नन्हे कुली छोकरे, हंसो !
पालतू शेर नहीं हो तुम !
हंसो, सियान-कियाङ की पहाड़ियों के लाल
जनरलो, हंसो !
पालतू शेर नहीं हो तुम !
हंसो, विदेशियों के कारखानों में खटने वाले
गुलाम बच्चो !
पालतू शेर नहीं हो तुम !
हंसो—और गरज उठो, चीन !
यह आग उगलने का समय है !
अपना मुंह खोलो, पूरब के पुराने अजदहे
निगल जाने के लिए याङत्सी में तैर रही गनबोटों को !
निगल जाओ अपने आसमान में उड़ते विदेशी
जहाजों को !
खा जाओ गोलियों को, पटाखों के प्राचीन
निर्माता—
और अपने दुश्मनों के मुंह पर उगल दो आजादी !
पूरब की जंजीरों को तोड़ डालो,
नन्हे कुली छोकरे !
पूरब की जंजीरों को तोड़ डालो, लाल जनरलो !
अनुदानों के लौह-द्वारों को तोड़ डालो !
ध्वस्त कर डालो मिशनरी-गृहों के पुण्य-द्वारों को !
जिम क्रो के वाई.एम.सी.ए. के घूमते दरवाजों को
तोड़ डालो !
कुचल दो जमीन, रोटी और आजादी के दुश्मनों को !
उठो और गरज उठो, चीन !
तुम जानते हो तुम क्या चाहते हो !
इसे पाने का बस एक ही रास्ता है
—इसे ले लेना !
गरज उठो, ओ चीन !

—लैंग्स्टन ह्यूज

वाजपेयी सरकार का नया एजेण्डा क्या है?

(पेज 1 से आगे)

छपे जिनमें **फिक्की, एसोचैम** और **सी. आई.आई.** के प्रतिनिधियों के प्रधानमंत्री व वित्तमंत्री से मिलकर आर्थिक सुधारों की गति तेज करने तथा सौ दिनों के भीतर कुछ फैसलाकुन कदम उठाने का आग्रह करने की चर्चा थी या फिर उद्योगपतियों की किसी न किसी बैठक में प्रधान मंत्री-वित्तमंत्री द्वारा कड़े कदम उठाकर आर्थिक सुधारों को उनके नतीजे तक पहुंचाने का आश्वासन देने का उल्लेख था। वैसे तो पहले भी हमारे देश में जनता महज ''वोट डालने की मशीन'' ही थी, सरकारों की डोर तो हमेशा ही थैलीशाहों के ही हाथों में हुआ करती थी। पर अब यह काम एकदम दिन-दहाड़े हो रहा है। आर्थिक शोषण-दमन, मंहगाई-बेरोजगारी और सत्ता तंत्र के उत्पीड़न से त्रस्त जिन लोगों की जिन्दगी रसातल के नारकीय अंधेरे में कैद कर दी गयी है, अब राजनीतिक प्रक्रिया में उनकी भागीदारी को भी महज रस्म-अदायगी बना दिया गया है। इस स्थिति का सकारात्मक पहलू यह है कि मौजूदा लोकतंत्र का खांटी निरंकुश पूंजीवादी और जनविरोधी चरित्र ज्यादा से ज्यादा आम मेहनतकश जनता के सामने उजागर होता जा रहा है।

वैसे यह प्रक्रिया, सरकार बनने के बाद नहीं, बल्कि चुनावों के पहले ही काफी साफ हो गई थी। भारतीय पूंजीपतियों की तीनों राष्ट्रीय संस्थाओं ने स्पष्ट शब्दों में ऐसे बयान कई बार दिये थे कि जो भी पार्टी या गठबंधन सत्ता में आये, उसे उदारीकरण निजीकरण के ''दूसरे दौर'' को तेजी से अंजाम देना होगा और समयबद्ध नतीजे देने होंगे। बिखरे हुए तीसरे मोर्चे ने पूंजीपतियों की विश्वसनीयता पहले ही खो दी थी और वह संसदीय विपक्ष की भूमिका से ही संतुष्ट रहकर इंतजार करना चाहता था। ''वामपंथी'' माकपा ने तो साम्प्रदायिकता-विरोध के नाम पर कांग्रेस को अपना समर्थन भी दे दिया था। सत्ता के लिए प्रतिद्वंद्वी भाजपा गठबंधन और कांग्रेस गठबंधन थे जो पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों को जी जान से यह भरोसा दिला रहे थे कि वे इसबार आर्थिक सुधारों को लागू करने के लिए कड़े-से-कड़े कदम उठाने से बाज नहीं आयेंगे।

पूंजीपतियों ने (खासकर राहुल बजाज ने तो अखबारों में बयान देकर) यह भी धमकी दी कि चुनाव यदि बार-बार होंगे तो वे चुनाव लड़ने के लिए पूंजीवादी पार्टियों को दी जाने वाली रकम (विगत चुनाव में दो अरब रुपये घोषित तौर पर और इससे करीब दूना धन दूसरे माध्यमों से दिया गया था) में कटौती कर डालेंगे।

बहरहाल, इसबार पूंजीपति घरानों और उनके भोंपुओं का पलड़ा भाजपा गठबंधन के पक्ष में ज्यादा झुका हुआ था। उदारीकरण-निजीकरण के ''दूसरे दौर'' के लिए आकाओं ने भाजपा को अभी ज्यादा उपयुक्त समझा। फिर क्या था, प्रचार का समां खूब बंधा और जोड़-तोड़ खूब चली। जनता दल (एकीकृत) बना, नायडू-करुणानिधि-चौटाला-ममता आदि को तैयार किया गया और कम सीटें पाने के बावजूद 24 दलीय गठबंधन के सहारे भाजपा सरकार सत्तासीन हो गई। उद्योगपतियों ने कांग्रेस को अभी और सेहत बनाने के लिए और मौका मिलने पर अगली पारी खेलने की तैयारी करने के लिए किनारे बैठा दिया है।

विगत चुनावों के जरिए भारतीय शासक वर्ग ने अपने चुने हुए फैसलाकुन तबाही के रास्ते के लिए एक ''कानूनी-संवैधानिक स्वीकृति'' हासिल करने का काम पूरा कर लिया है। सरमायेदारों ने जनता से अब इस बात का ''जनादेश'' लिया है कि वे उसपर (जनता पर) अपने हमले और तेज कर दें। भाजपा और कांग्रेस इस चुनाव में आर्थिक-सामाजिक लोकरंजक नारे देने के बजाय पूंजीपतियों से सीधे-सीधे वायदे करते रहे कि यदि उन्हें पांच साल तक राज करने दिया जाये तो वे आर्थिक सुधारों के दूसरे दौर को अंजाम तक पहुंचा देंगे। इस वायदे को जनता की नजरों से ओझल करने के लिए वे कारगिल पांखरण की ''देशभक्ति'', सोनिया गांधी के विदेशी मूल आदि-आदि का मुद्दा उछालते रहे और चुनावी मंचों से बेहद निचले दर्जे के व्यक्तिकेन्द्रित आरोपों-आक्षेपों का आदान-प्रदान करते रहे। बुर्जुआ बुद्धिजीवी इन सभी पार्टियों के जन-विरोधी कार्यक्रमों से लोगों का ध्यान हटाने के लिए चुनाव को ''मुद्दाहीन'' बताते रहे, जबकि मुद्दा था। और यह आम सहमति का मुद्दा था। भाजपा और कांग्रेस के नेतृत्व वाले दोनों प्रमुख प्रतिद्वंद्वी गठबंधन चाह रहे थे कि उदारीकरण-निजीकरण के ''दूसरे दौर'' को अंजाम देने की जिम्मेदारी उन्हें ही सौंपी जाये।

देशी-विदेशी पूंजीपतियों ने वाजपेयी सरकार को सत्तासीन होते ही सीधे-सीधे बताया कि उसे क्या करना है और कैसे करना है!

अब जरा चुनाव के बाद की स्थितियों पर गौर करें और देखें कि किस प्रकार हमारे देश की ''चुनी हुई'' सरकार पूंजीपतियों की 'मैनेजिंग कमेटी' की भूमिका आज एकदम खुले तौर पर निभा रही है।

नये मंत्रिमंडल के गठन के पहले ही विगत आठ अक्टूबर को भारतीय उद्योग परिसंघ (सी.आई.आई.) का एक तीन-सदस्यीय प्रतिनिधिमण्डल अध्यक्ष राहुल बजाज के नेतृत्व में प्रधानमंत्री से मिला और नई सरकार के लिए अपना 13 सूत्रीय एजेण्डा पेश किया। उक्त एजेण्डे की सर्वप्रमुख मांगें इस प्रकार थीं—(i) अनुत्पादक खर्चों में कमी लाने के लिए सरकार सस्ते राशन, गरीबों के लिए आवास आदि सभी ऐसी कल्याणकारी योजनाओं को सब्सिडी देना बंद करे जिनसे मुनाफा नहीं होता, (ii)संसद में लंबित सभी आर्थिक विधेयकों—जैसे बीमा विधेयक, विदेशी मुद्रा प्रबंधन विधेयक, दूरसंचार विधेयक आदि को नये संसद का सत्र शुरू होते ही पारित करा लिया जाये, (iii)निजीकरण की प्रक्रिया को तेज करने के लिए एक स्वतंत्र, अधिकारसम्पन्न प्राधिकरण बनाया जाये, (iv) निजीकरण की प्रक्रिया में सभी सरकारी उपक्रमों में सरकारी पूंजी का हिस्सा पहले 50 प्रतिशत से कम किया जाये, फिर उसे 26 प्रतिशत तक और फिर शून्य तक लाया जाये (बकौल राहुल बजाज, इससे सरकारी घाटा कम होगा और प्रतिस्पर्द्धा बढ़ेगी), (v) लघु उद्योग क्षेत्र के लिए बनाई गई आरक्षण सूची समाप्त कर दी जाये (यानी बड़ी पूंजी को इन क्षेत्रों में घुसकर एकाधिकार कायम कर लेने दिया जाये), (vi) बाहरी निवेशकों को (यानी साम्राज्यवादी पूंजी को) आकर्षित करने के लिए हर संभव कदम उठाया जाये... आदि-आदि।

और पूंजीपतियों को इतना निर्देश देकर ही तसल्ली नहीं हुई। राहुल बजाज ने यह भी कहा कि नये मंत्रिमंडल के गठन के बाद सी.आई.आई. सरकार को अपना विस्तृत एजेण्डा सौंपेगा। विभिन्न मंत्रालयों और विभागों को उद्योगों के अलग-अलग क्षेत्रों पर विस्तार से दस्तावेज दिये जायेंगे और सरकार को पूरी कार्ययोजना दी जायेगी। राहुल बजाज के मुताबिक नवम्बर '99 से मार्च 2000 तक की पांच महीने की अवधि काफी महत्वपूर्ण है और इस दौरान पहले 30 दिन, फिर 90 दिन, फिर 150 दिनों की कार्ययोजना सरकार को सुझाई जायेगी।

सी.आई.आई. के प्रतिनिधिमण्डल के मिलने के अगले ही दिन, 9 अक्टूबर को उद्योगपतियों की दूसरी राष्ट्रीय संस्था **एसोचैम** का एक प्रतिनिधिमण्डल अध्यक्ष के.पी.सिंह के नेतृत्व में प्रधानमंत्री से मिला जिसमें प्रसिद्ध उद्योगपति थापर और हरिशंकर भी शामिल थे। यह प्रतिनिधि मण्डल इसी दिन गृहमंत्री, वित्तमंत्री, विदेश मंत्री और मानव संसाधन मंत्री से भी मिला। इस प्रतिनिधिमण्डल ने भी अंतरराष्ट्रीय व्यापार को ज्यादा से ज्यादा उदार बनाने, विदेशी सहकार बढ़ाने, बीमा, पेटेण्ट और विदेशी मुद्रा प्रबंध जैसे अहम वित्तीय विधेयकों को पास करने तथा उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के अल्पकालिक तथा मध्यकालिक अमल पर निगरानी रखने के लिए प्रधानमंत्री कार्यालय में विशेष निगरानी प्रकोष्ठ बनाने का सुझाव दिया। स्वयं इसी प्रतिनिधिमण्डल के प्रेस-बयान के मुताबिक प्रधानमंत्री ने इन सभी सुझावों को स्वीकार कर लिया।

11 अक्टूबर को पूंजीवादी अखबारों में (देखें, 'जनसत्ता') पूंजीपतियों की तीसरी संस्था 'फिक्की' का एक अध्ययन प्रकाशित हुआ जिसमें यह कहा गया था कि बैंकों में प्रति कर्मचारी व्यापार का आंकड़ा 1 करोड़ 25 लाख रुपये होना चाहिए और **इस मानदण्ड से देश के 16 राष्ट्रीकृत बैंकों में कुल 1,77,405 कर्मचारी फालतू हैं, सिर्फ चार राष्ट्रीकृत बैंक ही इस मानक पर खरे हैं। रिपोर्ट में 20 राष्ट्रीकृत बैंकों के 22.30 प्रतिशत फालतू कर्मचारियों को छांटने का सुझाव दिया गया था।**

11 अक्टूबर को ही **एसोचैम** ने पुनः सरकार के सामने एक विस्तृत कार्ययोजना पेश की जिसमें सरकार को पहले सौ दिनों के भीतर घरेलू और विदेशी निवेशकों को प्रोत्साहित करने के लिए फैसलाकुन कदम उठाने की राय देने के साथ ही कुछ अल्पकालिक, मध्यकालिक और दीर्घकालिक प्रोग्राम भी दिये गये। इस कार्ययोजना में सरकार को 100 दिनों के भीतर बाकी उद्योगों में लाइसेंस व्यवस्था समाप्त करने, लघु उद्योगों के लिए आरक्षित सूची समाप्त करने, कृषि उपजों के आवागमन को पूरीतरह मुक्त करने और भवन-निर्माण उद्योग को विशेष छूट व बढ़ावा देने के सुझाव दिये गये थे। इसके साथ ही कार्ययोजना में उदारीकरण के बाद अप्रासंगिक हो चुके इस्पात मंत्रालय जैसे विभागों को समाप्त करने, वर्ष 1999-2000 में 10,000 करोड़ रुपये का विनिवेश लक्ष्य प्राप्त करने (यानी इतनी राशि की सरकारी इक्विटी खतम करके निजी पूंजीपतियों को सौंप देने), सब्सिडी घटाने और राजकोषीय घाटे को कम करने का सुझाव दिया गया था। एसोचैम अध्यक्ष महोदय ने यह भी फर्माया कि ऐसे ठोस कदम समाज के कमजोर वर्गों को कुछ देर के लिए पीड़ादायी भी लगें तो विकास के लिए अपरिहार्य हैं।

तीन दिन बाद 14 अक्टूबर को 'फिक्की' ने सत्तासीन नई सरकार के सामने आर्थिक सुधारों को तेज करने का अपना एजेण्डा पेश किया। इस एजेण्डा में सरकार से कहा गया है कि वह बीमा विधेयक, पेटेण्ट विधेयक, कम्पनी संशोधन विधेयक, 'फेमा' और खस्ताहाल कम्पनियों से संबंधित विधेयक को तुरंत पास करे। इसके अतिरिक्त निजीकरण की प्रक्रिया को आगे गति देने के लिए संसद में लंबित 15 और विधेयकों को चालू कैलेण्डर वर्ष के भीतर पास करने के लिए कहा गया है, जिनमें प्रमुख हैं—श्रमिक अनुबंध नियमन विधेयक, आवश्यक उपभोक्ता वस्तु विधेयक, सूचना प्रौद्योगिकी विधेयक, सिडबी (संशोधन) विधेयक... आदि। **एजेण्डे में बैंकों और वित्तीय संस्थानों के वित्तीय घाटों पर रोक लगाने के लिए फालतू कर्मचारियों की छंटनी करने, इनमें निजी पूंजी का हिस्सा आधे से अधिक करने और हर प्रकार की सरकारी उधारी पर रोक लगाने के साथ ही सस्ते राशन, स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि, रसोई गैस, गरीबों के लिए कम लागत के घर आदि सभी मदों में दी जाने वाली सब्सिडी को चरणबद्ध ढंग से, तीन वर्षों में पूरी तरह समाप्त कर देने का सुझाव दिया गया है।** सफेदपोश डकैतों के इस गिरोह का तर्क यह है कि इससे जनता को थोड़े समय के लिए तकलीफ होगी पर उत्पादकता जब बढ़ेगी तो जनता भी इतनी खुशहाल हो जायेगी कि खुले बाजार से ये सभी सुविधाएं मोल ले सकेगी। फिक्की ने सरकार को ''विकास के लिए जरूरी'' सुझाव यह भी दिया है कि वर्ष 1999-2000 के बजट में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए **सभी नई सरकारी नौकरियों पर तुरंत प्रभाव से रोक लगाकर खाली पदों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए तथा सार्वजनिक उपक्रमों के साथ-साथ सभी सरकारी विभागों में स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति योजना (वालण्टरी रिटायरमेण्ट स्कीम) लागू कर दी जानी चाहिए।**

यह तो हुई देशी उद्योगपतियों की संस्थाओं द्वारा सरकार को दिये गये सुझावों (या निर्देशों?) की बात। ठीक इसीतरह विगत लगभग 25 दिनों के भीतर भारत के अखबारों में ही छपे समाचारों के अनुसार, आई.एम.एफ., विश्व बैंक आदि साम्राज्यवाद की हित सेवी एजेन्सियों की रिपोर्टों, विशेषज्ञों, वित्तीय सलाहकारों, 'मूडी' और 'क्राइसिल' आदि अन्तरराष्ट्रीय रेटिंग एजेंसियों तथा विभिन्न पश्चिमी देशों के राजनयिकों-नेताओं ने भारत सरकार को उदारीकरण की प्रक्रिया को तेज करने का सुझाव एक के बाद एक लगातार दिया है, बल्कि प्रत्यक्ष-परोक्ष धमकी और ब्लैकमेलिंग की भाषा का भी इस्तेमाल किया है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि वित्तमंत्री यशवंत सिन्हा पिछले दिनों, परिणाम आने से भी पहले, अपने चुनाव क्षेत्र के बाद सीधे अमेरिका गये और वहां बाकायदा घोषणा की कि राजग सरकार सत्ता में वापस आते ही बीमा नियमन प्राधिकरण बिल लोकसभा में पेश करेगी।

(पेज 9 पर जारी)

उदारीकरण-निजीकरण के दूसरे दौर के अवश्यम्भावी नतीजे

15 फीसदी लोगों के ''स्वर्ग'' और 85 फीसदी लोगों के नर्क के बीच की खाई की गहराई और चौड़ाई कई गुनी कर देना, विदेशी लूट की पूरी खुली छूट, पूरे अर्थतंत्र पर काबिज देशी-विदेशी लुटेरों के मुनाफे के लिए शिक्षा-स्वास्थ्य आदि सभी बुनियादी जरूरतों को बिकाऊ माल बना दिया जाना, बैंक, बीमा, रेल, डाकतार आदि को देशी-विदेशी पूंजीपतियों के हवाले कर दिया जाना, छंटनी से करोड़ों मजदूरों-कर्मचारियों का सड़कों पर आ जाना, श्रम-कानूनों में मालिकों के हितों के अनुकूल बुनियादी बदलाव, उन्नत बड़े उद्योगों में भी ज्यादातर काम दिहाड़ी और ठेका मजदूरों के जरिए लेना, दवाओं की कीमतों में दस से बीस गुनी तक वृद्धि, उच्च और व्यावसायिक शिक्षा बेहद मंहगी और पूंजीपति घरानों के हवाले, किसानों का खाद-बीज पर अधिकार का अपहरण, गांवों की अर्थव्यवस्था पर देशी-विदेशी पूंजी और धनी किसानों का प्रभुत्व, करोड़ों कम पूंजी वाले मध्यम व गरीब किसानों का कंगालीकरण आदि-आदि... तबाही-बर्बादी, बस तबाही-बर्बादी

और

इस तबाही-बर्बादी के खिलाफ रोजी-रोटी और इंसाफ के लिए लाजिमी तौर पर उठ खड़ी होने वाली जनता को कुचलने के लिए चौकस सरकारी इंतजाम—तरह-तरह के नये-नये काले काले कानून, लाठी-गोली-जेल, जनतंत्र के रामनामी दुपट्टे में ढंके खंजरों-बघनखों का कमाल!

वाजपेयी सरकार का नया एजेण्डा क्या है?

(पेज 8 से आगे)

उदारीकरण-निजीकरण के ''दूसरे दौर'' में वाजपेयी सरकार का एजेण्डा हूबहू वही है जैसा पूंजीपतियों की संस्थाओं ने कहा है!

उपरोक्त तथ्यों का एक संक्षिप्त सिलसिलेवार ब्यौरा यह स्पष्ट कर देता है कि देश की एक अरब आबादी की जिन्दगी को प्रभावित करने वाली तमाम आर्थिक व अन्य नीतियों का निर्धारण पूंजीवादी विधायिका (संसद) में या मंत्रिमंडल की बैठकों में नहीं बल्कि पूंजीपतियों के मंत्रणा कक्षों (कारपोरेट बोर्ड रूम्स) में होता है। ऐसा तब भी होता था जब पूंजीवादी सरकार के पास ''समाजवादी'' मुखौटा था। पर आर्थिक नवउपनिवेशवाद के वर्तमान दौर में अब यह एकदम खुलेआम हो रहा है। अब पूरी सरकार ही मुखौटों की सरकार बन गई है और प्रधानमंत्री राष्ट्रीय-बहुराष्ट्रीय निगमों का 'चीफ एक्जीक्यूटिव ऑफिसर' मात्र बनकर रह गया है।

यह अनायास नहीं है कि पिछले नौ वर्षों के भीतर देश के प्रधानमंत्री या वित्त मंत्री ने अधिकांश बुनियादी नीतिगत फैसलों की घोषणाएं सबसे पहले संसद या मंत्रिमंडल की बैठक में नहीं बल्कि पूंजीपतियों के सभाओं-सम्मेलनों में की हैं, या फिर वाशिंगटन-न्यूयार्क में और दावोस में होने वाली विदेशी निवेशकों की सालाना मीटिंगों में या किसी अंतरराष्ट्रीय वित्तीय सहायता एजेंसी के प्रतिनिधियों के सामने। यह सच्चाई अपने आप में भारतीय राज्यसत्ता के चरित्र को और उसकी आज की स्थिति को काफी हद तक साफ कर देती है।

बात को और अधिक साफ करने के लिए आइये देखें कि गत लगभग तीन सप्ताह के भीतर, पूंजीपतियों के ऊपर उल्लिखित मांग पत्रों और सुझाये गये एजेण्डों के प्रति वाजपेयी और उनके सिपहसालारों का क्या रुख और क्या प्रतिक्रिया रही, किसप्रकार उन्होंने 'रेस्पाण्ड' किया।

आर्थिक नीतियों को बनाने और ''सुधारों'' की प्रक्रिया को लागू करने की निगरानी सीधे प्रधानमंत्री कार्यालय से करने के प्रस्ताव को प्रधानमंत्री वाजपेयी ने दो कदम और आगे ही बढ़कर लागू किया। उन्होंने स्वयं अपने नेतृत्व में ''क्रैक टीम'' के रूप में आर्थिक सुधारों की एक कैबिनेट टीम का गठन किया है जिसमें वित्त मंत्री यशवंत सिन्हा, उद्योग मंत्री मुरासोली मारन, विदेश मंत्री जसवंत सिंह और योजना आयोग के उपाध्यक्ष के.सी. पन्त शामिल हैं। इसके पूर्व सुधारों पर अमल के मामले में वित्त मंत्रालय की भूमिका प्रधान होती थी। अब यह काम सीधे प्रधानमंत्री कार्यालय की देखरेख में होगा। वाजपेयी ने स्वयं उद्योगपतियों-व्यापारियों-अर्थशास्त्रियों से राय मशविरा करने की भी घोषणा की है। उन्होंने दूरसंचार और बुनियादी ढांचागत उद्योगों के लिए अलग मंत्रियों की कमेटियां गठित करने तथा निजी क्षेत्र की दूरसंचार परियोजनाएं शुरू करने और नये हवाई अड्डों-बंदरगाहों और ''एक्सप्रेस हाइवे'' के निर्माण की भी घोषणा की है।

चुनाव नतीजे आने शुरू होने के समय से लेकर अगले लगभग एक हफ्ते तक **वाजपेयी और यशवंत सिन्हा ने एक ही बात अलग-अलग बयानों में कई बार दुहराई कि आर्थिक सुधारों को आगे बढ़ाने के लिए ''कठोर फैसले'' लेने होंगे। जाहिरा तौर पर इन फैसलों को ''कठोर'' आम जनता के लिए ही होना था और आगे की अपनी घोषणाओं और कार्रवाइयों से प्रधानमंत्री-वित्तमंत्री ने इसे एकदम साफ कर दिया।**

अंतिम चरण के मतदान से भी पहले योजना आयोग ने सरकार के भावी आर्थिक एजेण्डे का प्रारूप तैयार करना शुरू कर दिया और पूरी कसरत का जो नतीजा निकला वह पूंजीपतियों का दिल बाग-बाग कर देने वाला था। योजना आयोग ने अपने सुझावों में कहा है कि आर्थिक स्थिति मजबूत करने के लिए सरकार को जो भी कदम उठाने हैं, वे सत्ता सम्हालते ही उठा लेने चाहिए, क्योंकि बाद में कोई अड़चन भी आ सकती है। योजना आयोग ने भी सरकार को उन्हीं वित्तीय विधेयकों को शीतकालीन सत्र तक पास करा लेने का सुझाव दिया है, जिन्हें पूंजीपति यथाशीघ्र कानून के रूप में लागू होते देखने के लिए आतुर हैं। योजना आयोग ने भी सार्वजनिक वितरण प्रणाली को कम आय वाले लोगों तक सीमित करने के साथ ही हर तरह की केन्द्रीय सब्सिडी में भारी कटौती का तथा आबादी के और बड़े हिस्से को करों के घेरे में लाने का सुझाव दिया है।

अब वित्त मंत्रालय उन सहमति-पत्रों पर राज्य सरकारों से दस्तखत यथाशीघ्र करा लेना चाहता है, जो विगत सरकार के कार्यकाल के दौरान ही विश्व बैंक के निर्देशों को लागू करने के लिए उसी के सुझाव से तैयार किये गये थे। इस सहमति पत्र की शर्तों के अनुसार केन्द्रीय सहायता पाने के लिए अगले कुछ सालों में राज्यों को अपने कर्मचारियों की संख्या घटानी होगी तथा बिजली और पानी की दरों में क्रमशः बढ़ोत्तरी करनी होगी। सरकार यह भी सोच रही है कि कानून बनाकर इन सहमति पत्रों को सभी राज्यों के लिए अनिवार्य बना दिया जाये। गौरतलब है कि इस सरकारी फैसले से जनता को बिजली-पानी की मंहगाई और बड़े पैमाने पर छंटनी का कहर तो भुगतना ही पड़ेगा, यह निर्णय भारतीय व्यवस्था के बचेखुचे संघात्मक स्वरूप पर भी एक घातक चोट है और इसे लगभग पूरीतरह एकात्मक (यूनिटरी) बनाने की एक कोशिश है, जो जनता के राजनीतिक अधिकारों को सिकोड़ने के लिए और केन्द्रीय राज्यसत्ता को निरंकुश अधिकार देने के लिए आवश्यक है।

विगत 10 अक्टूबर को वित्तमंत्री ने वित्तीय घाटे की भरपाई के लिए सख्त कदम उठाने की एक बार फिर घोषणा करते हुए कहा कि इसी महीने के, यानी अक्टूबर '99 के अंत से सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में 10,000 करोड़ रुपये के विनिवेश का कार्यक्रम शुरू कर दिया जायेगा। 15 अक्टूबर को '*टाइम्स ऑफ इण्डिया*' में प्रकाशित एक साक्षात्कार में यशवन्त सिन्हा ने अपनी तमाम पूर्व घोषणाओं को दुहराने के साथ ही यह भी कहा कि वित्तीय क्षेत्र में सुधार के लिए नरसिम्हन कमेटी की रिपोर्ट जल्दी ही लागू कर दी जायेगी जिसके मुताबिक राष्ट्रीकृत बैंकों में सरकारी इक्विटी आधी से भी कम कर देने की सिफारिश की गई है। जाहिर है कि इसके बाद इन बैंकों का मालिकाना व्यवहारतः निजी पूंजीपतियों के हाथों में चला जायेगा और जनता को निचोड़ने के लिए पूंजी के रूप में जनता की ही बचत का इस्तेमाल वे और अधिक निर्द्वंद्व भाव से कर सकेंगे तथा लाखों बैंक कर्मचारियों की छंटनी की अपनी योजना भी अमल में लाने के लिए उनके हाथ तब खुले होंगे।

इतना ही नहीं, अपने इसी साक्षात्कार में वित्तमंत्री महोदय ने निजी पूंजी के प्रति वफादारी दिखाने के भावाकुल उछाह में यहां तक बक दिया कि उनका ''व्यक्तिगत विचार'' तो यह है कि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को छोड़कर एक निर्धारित समय-सीमा के भीतर सार्वजनिक क्षेत्र के सभी बैंकों का पूरीतरह निजीकरण कर दिया जाना चाहिए।

विगत 16 अक्टूबर को प्रधानमंत्री ने राष्ट्र के नाम जो संदेश दिया उसमें लोकलुभावन बातों की सभी हेराफेरी, ''स्वदेशी'' की लफ्फाजी आदि को दरकिनार करके सीधे-सीधे आई.एम.एफ. और विश्व बैंक की तथा भारतीय पूंजीपतियों के शीर्ष संगठनों की भाषा में आर्थिक सुधार की बात की गई थी। यह संदेश वस्तुतः विदेशी कम्पनियों के लिए था कि वे आयें और बीमा-बैंकिंग की नियंत्रणकारी वित्तीय चोटियों सहित पूरी अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण कायम करके अकूत मुनाफा कमायें। प्रधानमंत्री ने मंहगाई, बेरोजगारी, मजदूरों से ज्यादा से ज्यादा ठेका व दिहाड़ी पर काम लेने या छोटे-मंझोले किसानों की तबाही की रस्मी तौर भी कोई चर्चा नहीं की और प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य, गांवों में सड़कों के निर्माण, बेघरों के लिए आवास, स्वच्छ पेयजल आदि जिन समस्याओं का उल्लेख भी किया तो उन्हें हल करने के लिए निजी क्षेत्र की भागीदारी पर बल दिया।

साम्राज्यवादियों-पूंजीपतियों के जनविरोधी एजेण्डे पर अमल के एक-एक कदम का पुरजोर विरोध करो!
फौरी हार-जीत की परवाह मत करो!
एक फैसलाकुन संघर्ष की ओर आगे बढ़ो!
सत्ताधारियों का एजेण्डा सामने आ चुका है!
अब हमें भी अपना एजेण्डा पेश करना होगा!

हमारा एजेण्डा—साम्राज्यवादी लूट के वर्चस्व और पूंजीवादी हुकूमत का नाश!
—उत्पादन, राजकाज, समाज के ढांचे पर उत्पादन करने वालों का पूर्ण नियंत्रण!
—क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य की स्थापना!

हमारा नारा—सारी सत्ता मेहनतकश को!

19 अक्टूबर को केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने अपनी बैठक में कुख्यात बीमा नियमन प्राधिकरण बिल को लोकसभा में पेश करने के लिए अपनी स्वीकृति दे दी और 20 अक्टूबर को अरसे से लंबित विदेशी मुद्रा विनिमय, साइबर कानून और ई-कामर्स को नियमित करने संबंधी विधेयक, 'प्रिवेंशन ऑफ मनी लॉंडरिंग बिल' और प्रतिभूति विधेयक को भी हरी झण्डी दिखा दी गई। अब यह केवल समय की बात है कि ये विधेयक लोकसभा से पारित होकर कानून बन जायेंगे और देशी-विदेशी पूंजी की निर्बाध लूट तंत्र के विकास के रास्ते की अहम कानूनी अड़चनें दूर हो जायेंगी।

इसके एक दिन पहले 18 अक्टूबर को भारी उद्योग एवं सार्वजनिक उपक्रम मंत्री मनोहर जोशी ने पदभार सम्हालते ही यह घोषणा की कि विदेशी निवेश को आकर्षित करने तथा देशी निजी क्षेत्र की भागीदारी को बढ़ाने के लिए उदारीकरण की प्रक्रिया को तेज कर दिया जायेगा तथा सभी सार्वजनिक कम्पनियों में विनिवेश कार्यक्रम को सख्ती से लागू किया जायेगा। इस दिशा में पहले कदम के तौर पर 24 चुने हुए सार्वजनिक उपक्रमों को संयुक्त उपक्रम में तब्दील कर दिया जायेगा। उन्होंने यह भी कहा कि खस्ताहाल सार्वजनिक उपक्रमों को बनाये रखने के लिए चलाते रहने का कोई औचित्य नहीं है। **अब तय है कि नौकरशाहाना भ्रष्टाचार और पूंजी निवेश की कमी से कमजोर सार्वजनिक उपक्रमों को बंद करके देर-सबेर लाखों कर्मचारियों को सड़कों पर धकेल दिया जाना है और फिर उन कारखानों की जमीन, भवन, मशीनों आदि को औने-पौने कीमतों पर पूंजीपतियों को बेच दिया जाना है।**

21 अक्टूबर के 'जनसत्ता' में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार, पूर्व कपड़ा सचिव एस. सत्यम की अध्यक्षता में गठित एक समिति ने नई कपड़ा नीति बनाने के लिए सरकार से यह सिफारिश की है कि वह वस्त्र, होजियरी और सिलाई क्षेत्रों को लघु उद्योगों के लिए आरक्षित क्षेत्र से निकाल दे। समिति ने हथकरघा आरक्षण कानून को भी समाप्त करने की, एन.टी.सी. की बीमार मिलों को निजी पूंजीपतियों को सौंप देने की तथा 'सिले-सिलाए वस्त्र सेक्टर' में सौ फीसदी प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की इजाजत देने की सिफारिश की है। जाहिर है कि **इस प्रस्तावित नई कपड़ा नीति से तमाम लघु उद्योग तबाह हो जायेंगे, यह विराट क्षेत्र देशी-विदेशी बड़ी पूंजी की लूट के लिए खुल जायेगा और लघु उद्योगों से उजड़े कारीगरों-मजदूरों की करोड़ों की आबादी दिहाड़ी और ठेका मजदूरों की लाइनों में शामिल होकर अपना सस्ता श्रम बेचने के लिए मजबूर हो जायेगी।** समिति ने एक छंटनी नीति बनाने के साथ ही ठेका मजदूर रखने और स्वैच्छिक अवकाश योजना लागू करने के मामले में ''लचीला रुख'' अपनाने की—यानी मालिकों को खुला हाथ देने की भी सिफारिश की है।

उल्लेखनीय है कि **श्रम कानूनों में ऐसे ही सुधारों की बात लगातार देशी पूंजीपतियों की संस्थाएं, अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियां और सभी पार्टियां करती रही हैं और जाहिर सी बात है कि जल्दी ही आने वाली श्रम आयोग की रिपोर्ट में श्रम कानूनों में सुधार के नाम पर इन्हीं श्रमिक-विरोधी नीतियों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाना है। वैसे जमीनी हकीकत यह है कि आज ही ज्यादातर बड़े और आधुनिक उद्योगों में भी ठेका और दिहाड़ी मजदूरों से ही ज्यादा काम लिया जा रहा है जिनके काम के घण्टों और स्थितियों के मामले में उन्नीसवीं सदी के मध्य के यूरोपीय उद्योगों जैसी ही बर्बर अमानवीय स्थिति है। श्रमिकों के लिए श्रम न्यायालयों की रही-सही भूमिका भी लगभग समाप्त हो चुकी है। नया श्रम कानून इस स्थिति पर बस फाइनल ठप्पा लगाने का ही काम करेगा।**

स्मरणीय यह भी है कि वाजपेयी सरकार के पिछले कार्यकाल में ही नई आयात-निर्यात नीति के तहत विदेशी पूंजीपतियों और निर्यात के लिए उत्पादन करने वाले उद्योगों के मालिक देशी पूंजीपतियों को बहुतेरी छूटें देने के साथ-साथ 'एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन' नामधारी जिन मुक्त व्यापार क्षेत्रों की स्थापना की गई है, उनमें इस देश के श्रम कानून लागू ही नहीं होते। अब नये उद्योग मंत्री मुरासोली मारन पूरे देश में ज्यादा से ज्यादा ऐसे क्षेत्रों के निर्माण में जुटे हुए हैं।

उधर देश के सबसे बड़े उद्योग—रेल उद्योग के किश्तों में निजीकरण की सिफारिश तो पांचवें वेतन आयोग के समय से ही की जा रही है और इसपर चुपचाप अमल भी जारी है। कुल 18 लाख रेल कर्मियों की संख्या घटाकर आधी करने के लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ते हुए इसे लगभग 13 लाख तक पहुंचाया जा चुका है। रेलवे के विशाल वर्कशाप और कारखाने बेकार होते जा रहे हैं। विदेशी कम्पनियों को ठेके दिये जा रहे हैं। वाजपेयी सरकार के विगत कार्यकाल में ही विदेशी निवेश प्रोत्साहन बोर्ड ने ब्रिटेन की एक रेल कम्पनी की भारतीय इकाई को एक भारतीय कंपनी के साथ साझा कंपनी में 51 प्रतिशत हिस्से के साथ पर्यटक ट्रेनें चलाने की इजाजत दे दी। इस तरह की अन्य कई परियोजनाओं में प्रत्यक्ष निवेश के साथ ही विदेशी कर्ज के जरिए भी विदेशी पूंजी घुसपैठ पहले से ही जारी थी। सरकार 18 नई रेल परियोजनाओं के लिए एशियाई विकास बैंक से 30 करोड़ डालर (1250 करोड़ रुपये) का कर्ज ले रही है। कर्ज देने से पहले बैंक ने रेल मंत्रालय के सामने शर्त रखी है कि वह कर्मचारियों की छंटनी करे, उपनगरीय ट्रेनों के भाड़े बढ़ाये तथा रेल कोच व अन्य साजो-सामान बनाने वाले कारखानों का निजीकरण करे।

रेल मंत्रालय सम्हालते ही रेलवे बोर्ड की पहली बैठक में ही नई रेल मंत्री ममता बनर्जी ने धन की कमी का रोना रोते हुए कई महत्वपूर्ण रेल-परियोजनाओं को निजी क्षेत्र में सौंपने की बात कही। उधर डीजल की कीमत में 40 फीसदी की बढ़ोत्तरी से 700 करोड़ रुपये का जो अतिरिक्त बोझ पड़ा है उसे उठाने के लिए तथा अन्य घाटों की भरपाई के लिए रेल की जमीन व अन्य परिसम्पत्तियों को बेचने का भी प्रस्ताव विचाराधीन है। रेल मंत्री ने रेल भाड़ा ''अभी'' नहीं बढ़ाने की बात की है पर रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष ने अगले वर्ष भारी वृद्धि के संकेत भी दे दिये हैं।

उदारीकरण-निजीकरण के दूसरे दौर की नीतियों का सबसे व्यवस्थित ढंग से ब्यौरा प्रस्तुत करने के लिए वित्तमंत्री यशवंत सिन्हा ने फिर पूंजीपतियों के सभा मंच को ही चुना। 22 अक्टूबर के फिक्की के सम्मेलन में उन्होंने देश के अग्रणी उद्योगपतियों के बीच सभी ''कठोर फैसलों'' की तफसील से चर्चा की जिनमें ब्याज दर कम करना, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को बढ़ाने के लिए सभी सरकारी दफ्तरी औपचारिकताओं को समाप्त करना, श्रम कानूनों में (मालिकों

(पेज 10 पर जारी)

वाजपेयी सरकार का नया एजेण्डा

(पेज 9 से आगे)

के हित में) बदलाव करना, डब्ल्यू.टी.ओ. की शर्तों को पूरा करने के लिए आवश्यक कदम उठाना, बैंकों-बीमा और पब्लिक सेक्टर के उद्योगों में देशी-विदेशी निजी पूंजी की साझेदारी को बढ़ाना, ''फालतू'' कर्मचारियों की छंटनी करना तथा वित्तीय घाटे को कम करने के लिए सब्सिडी घटाना आदि—ये सभी अहम मसले शामिल थे। पूंजीपतियों ने, सभा में उपस्थित अर्थशास्त्रियों ने और जर्मनी के राजदूत ने वित्तमंत्री के भाषण पर काफी संतोष प्रकट किया।

आम सहमति कैसी, किनके बीच और किनके खिलाफ?

ऊपर हमने मतदान के नतीजे आने के समय से लेकर आगे के लगभग तीन सप्ताह की छोटी सी अवधि का जो ब्यौरा तफसील से दिया है, उससे स्पष्ट है कि भाजपा गठबंधन की सरकार इस बार हर तरह के विरोध से निपटने की पूरी तैयारी करके उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को पूरी तरह से लागू करने के लिए कटिबद्ध है। इस समय सरकारी हलकों में सिर्फ आर्थिक मसलों की ''कठोर फैसलों'' की बातें हो रही हैं। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि मुनाफे के बंटवारे के सवाल पर तमाम आपसी अन्तरविरोधों के बावजूद, साम्राज्यवादी पूंजीपतियों और देशी इजारेदार-गैर इजारेदार, पूंजीपतियों के बीच निजीकरण-उदारीकरण की बुनियादी नीतियों पर जल्दी से जल्दी अमल के प्रश्न पर लगभग सम्पूर्ण आम सहमति है।

सभी बुर्जुआ पार्टियों के बीच भी इन नीतियों पर पूरी तरह आम सहमति है, उनके बीच का झगड़ा सिर्फ इस बात को लेकर है कि कौन सरकार में बैठकर इन नीतियों को लागू करने का काम करे। इस बात को भूला नहीं जा सकता कि पिछली बार बीमा विधेयक एक सदन में कांग्रेस की मदद से ही पास हुआ था। 'फेमा' संयुक्त मोर्चे के दौर में तैयार हुआ था, अब उसे भाजपा सरकार पास कराने जा रही है। डीजल की कीमत बढ़ाई है भाजपा सरकार ने, पर तेल की कीमतों को अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों से जोड़ने का काम संयुक्त मोर्चे की सरकार ने ही किया था जिसमें भाकपा शामिल थी और माकपा जिसे समर्थन दे रही थी। अब यदि भाकपा-माकपा के नेता डीजल की कीमतों में वृद्धि के खिलाफ राष्ट्रपति को ज्ञापन दे रहे हैं तो यह महज उनके ''लाल लिफाफे'' का तकाजा है। आखिर उन्हें भी तो गरीबों के बीच अपने चुनावी आधार को बचाये रखना होता है। इन चुनावी वामपंथियों की समस्या यह है कि केरल और बंगाल में सरकारें चलाते हुए या केन्द्र में कभी संयुक्त मोर्चा सरकार जैसा कोई मौका हाथ लगने पर इन्हें भी उन्हीं आर्थिक नीतियों को लागू करना पड़ता है (क्योंकि पूंजीवादी दायरे में अब नेहरूवादी ''समाजवादी'' या रत्ती भर भी ''रैडिकल'' सुधारवादी नीतियों की कोई गुंजाइश बाकी नहीं है) पर अपनी वामपंथी छवि की हिफाजत के लिए मार्क्स का नाम लेते हुए इन्हें कीन्स के ''कल्याणकारी राज्य'' की सड़ी लंगोटी से सिली हुई टोपी पहने रहना पड़ता है।

उदारीकरण के दौर में शासक वर्गों के सभी दलों के बीच जो आम सहमति है, यह आम सहमति पूरीतरह मेहनतकश अवाम को पूंजी के कोल्हू में पीस डालने की आम सहमति है।

यह पूंजीवादी जनवाद की आज की मजबूरी है कि देशी पूंजीपतियों-साम्राज्यवादियों के आम सहमति के एजेण्डे और पूंजीवादी राजनीतिक दलों के आम सहमति के एजेण्डे के बीच की समानता आज सीधे सामने आ जा रही है और यह सच्चाई सात पर्दों से बाहर आकर खुद ही चीख रही है कि ''लोकतंत्र'' के ये सभी ठेकेदार जनता के नहीं बल्कि पूंजीपतियों के सेवक हैं और इस पूंजीवादी लोकतंत्र में सरकार की भूमिका सिर्फ शासक वर्गों की 'मैनेजिंग कमेटी' की ही है।

एक लोककथा में यह चर्चा आती है कि जिसने राजा के सिर का सींग देख लिया, उसे राजा ने जिन्दा नहीं छोड़ा। जाहिर है कि राजा के सिर का सींग यदि सारी जनता देख ले तो वह पूरी जनता पर भी कहर बरपा करने से नहीं चूकेगा। तय बात है कि आज के पूंजीवादी लोकतंत्र के साथ भी यही बात लागू होगी। जैसे-जैसे इसका असली चेहरा जनता के सामने आता जा रहा है, इसके निरंकुश दमनकारी तानाशाही खंजरों- बघनखों के इस्तेमाल का खतरा भी बढ़ता जा रहा है। सत्ता में आने के बाद प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी पूरी सदाशयता के साथ ''देशहित'' में सभी राजनीतिक पार्टियों से आम सहमति की अपील कर रहे हैं। उनकी सदाशयता जनता के लिए कतई नहीं है। उसके लिए वह ठीक उल्टी चीज है। वे जिस देश हित की दुहाई दे रहे हैं, वह वास्तव में देशी-विदेशी पूंजी का हित है और वे जिस आम सहमति की बात कर रहे हैं वह लुटेरों के बीच लूट के सिद्धान्त और व्यवहार के बुनियादी प्रश्न पर कायम आम सहमति है।

दो रास्तों की बीच लड़ाई अब निर्णायक दौर में प्रवेश कर रही है! एक रास्ते को मिटाकर ही दूसरे रास्ते पर आगे बढ़ा जा सकता है!!

उदारीकरण-निजीकरण के जिस दूसरे दौर की नीतियों पर शासक वर्गों की और उनकी सभी पार्टियों की आम सहमति है, वे ही नीतियां धीरे-धीरे इस बात की जमीन तैयार कर रही हैं कि इन नीतियों के खिलाफ और इन्हें लागू करने वाले वर्गों की राज्यसत्ता के खिलाफ क्रान्तिकारी संघर्ष छेड़ने के प्रश्न पर सभी दबे-कुचले मेहनतकश वर्गों-जमातों के बीच आम सहमति बने। आगे यह काम और तेजी से होगा।

यह लड़ाई अब सीधे-सीधे दो रास्तों के बीच की लड़ाई है। एक रास्ता कहता है कि राज्य का काम सिर्फ बाजार की ताकतों को फलने-फूलने का अवसर देना है और उसका तात्पर्य होता है कि राज्य अकूत प्राकृतिक सम्पदा और सस्ती श्रम शक्ति की लूट में कानून-व्यवस्था के जरिए पूंजी की मदद करे और इस लूट का विरोध करने वालों को कानूनों और हथियारों से कुचल डाले। दूसरा रास्ता कहता है कि रोजी-रोटी का अधिकार सबका जन्मसिद्ध अधिकार है और उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया है ही इसलिए कि सभी उसमें हिस्सा लें और समानतापूर्वक उनकी आवश्यकताएं पूरी हों।

पहला रास्ता कहता है कि उत्पादन के साधनों पर जिन पूंजी वालों की मिल्कियत है वे ही राजकाज चलाते हैं क्योंकि वे ही इस योग्य हैं। दूसरा रास्ता कहता है कि पूंजी तो श्रम की लूट से ही संचित हुई हैं और फिर छल-बल से पूंजी वाले, कारखानों और जमीनों के मालिक हुकूमत कर रहे हैं। अतः उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढांचे पर उत्पादन करने वाले लोगों का ही कब्जा होना चाहिए। यही क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का मूल मंत्र है।

उपरोक्त दो रास्तों के बीच की लड़ाई भूमण्डलीकरण के नये साम्राज्यवादी दौर में, अब एक नये फैसलाकुन दौर में प्रवेश कर रही है—पूरी दुनिया में भी और हमारे देश में भी।

तीन सौ वर्षों के पूंजीवाद और उसके विकास की चरम अवस्था—साम्राज्यवाद के सौ वर्षों का इतिहास मेहनतकश जनता के सामने है। इन सौ वर्षों के बीच सर्वहारा वर्ग ने दो महान क्रान्तियां और अन्य कई क्रान्तियां भी कीं और पूंजीवादी जनतंत्र के बरक्स समाजवादी जनतंत्र का मॉडल भी कई वर्षों तक खड़ा रखा। ये प्रयोग प्रारम्भिक थे। ये जारी नहीं रह सके, लेकिन मेहनतकशों की आने वाली क्रान्तियों के लिए काफी कीमती सबक दे गये।

पूरी दुनिया के मुख्तलिफ हिस्सों में, जिनमें हमारा देश भी शामिल है, अब फिर दबाव इकट्ठा हो रहा है और तूफान के संकेत मिल रहे हैं। आने वाली सदी में साम्राज्यवादी तंत्र के खिलाफ पूरी दुनिया के मेहनतकशों के फैसलाकुन संघर्ष लड़े जायेंगे, और ये सबसे दबे-कुचले लोगों के देशों से—एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के किसी कोने से—भारत से, चीन से या रूस से भी फूट सकते हैं या मेक्सिको से, इण्डोनेशिया से या अरब भूमि से भी।

यह सरकार उदारीकरण के ''नये दौर'' के नाम पर जिस विनाश को भारत की व्यापक मेहनतकश जनता पर एकदम फैसलाकुन और धुंधाधार अंदाज में थोपने जा रही है, उसके तमाम नतीजों को पूरी दुनिया की ऊपर चर्चित दशा-दिशा और भविष्य की सम्भावनाओं की पृष्ठभूमि में रखकर देखने की जरूरत है।

उदारीकरण-निजीकरण के पिछले नौ वर्षों के पहले और प्रारम्भिक दौर के विनाशकारी नतीजे 98 अरब डालर के विदेशी कर्ज, साढ़े पैंतालिस अरब रुपये के देशी कर्ज, 25 करोड़ से अधिक की बेरोजगारी, लाखों छोटे-मंझोले उद्योगों की तबाही और करोड़ों मजदूरों की बेकारी, गांवों से उजड़ते छोटे-मझोले किसानों की करोड़ों की आबादी, गांव-गांव तक बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की तेजी से बढ़ी पैठ और उनकी लूट में बेहिसाब बढ़ोत्तरी, लगातार बढ़ती मंहगाई, ग्रामीण व औद्योगिक मजदूरों की लगातार घटती आय, ठेका और दिहाड़ी मजदूरों की संख्या में कई गुना वृद्धि, कुपोषण, भुखमरी, मंहगी दवाओं के कारण मरते लोगों आदि-आदि बर्बर विभीषिकाओं के रूप में सामने है। इससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्थिक सुधारों का दूसरा दौर हमारे ऊपर कैसा कहर बरपा करने वाला है!

शासक वर्गों द्वारा जनता के खिलाफ जो आर्थिक युद्ध छेड़ा गया है, वह जनता चुपचाप झेलती नहीं रह सकती। वह उठ खड़ी होगी, इसे हुक्मरान भी जानते हैं। इसलिए जनता को कुचलने के लिए भी काले कानूनों और दमनतंत्र को ज्यादा से ज्यादा चाक-चौबन्द किया जा रहा है।

साम्राज्यवादियों-पूंजीपतियों ने अपना एजेण्डा पेश कर दिया है। अब इस देश के मेहनतकश अवाम को अपना एजेण्डा पेश करना है। यह एजेण्डा है—देशी-विदेशी लूट के नाश, पूंजीवादी राज्यसत्ता के नाश और एक ऐसे सामाजिक ढांचे के निर्माण के लिए क्रान्तिकारी संघर्ष जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के ढांचे पर उत्पादन करने वाले काबिज हों।

मुनाफे की अन्तहीन हवस में पगलाये साम्राज्यवादियों और पूंजीपतियों के सामने जो एकमात्र रास्ता बचा था वे उसे लागू कर रहे हैं। अब मेहनतकश जनता के सामने भी एक ही रास्ता बचा है और उसको उसी रास्ते पर कदम बढ़ाना होगा।

शासक वर्ग पहले से संगठित है। हर स्थिति के लिए तैयार है। उसके पास राज्यसत्ता की ताकत है। जनता की क्रान्तिकारी शक्ति अभी बिखरी हुई है, नेतृत्व अभी बंटा हुआ है, नई तैयारियों की पहली मंजिल में है।

अतः जाहिर है, हमें फौरी तौर पर हार-जीत की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। शासकों के जनविरोधी एजेण्डे के एक-एक नुक्ते का ताकत भर पुरजोर विरोध करते हुए, अपनी ताकत संजोते हुए, एक-एक कदम उस विस्फोट की दिशा में बढ़ना होगा, जो निर्णायक संघर्ष के पहले चरण की शुरुआत होगा।

25 अक्टूबर 1999

बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता

(पेज 7 से आगे)

की कम्युनिस्ट पार्टी से एक वर्ष पहले ही हो चुकी थी। इसके नेता एम.एन. राय मार्क्सवादी दर्शन के ''बड़े विद्वान'' थे। शिक्षा और विकास की दृष्टि से भारत का शिक्षित मध्यवर्ग भी चीन से आगे था और औद्योगिक सर्वहारा वर्ग की ताकत भी यहां से चीन से अधिक थी। लेकिन 1933 में जाकर भारतीय पार्टी की पहली केन्द्रीय कमेटी गठित हुई, तबतक एक सुनिश्चित कार्यक्रम के आधार पर चीन की पार्टी लोकयुद्ध की शुरुआत कर चुकी थी। चीन की पार्टी ने 1949 में क्रान्ति सम्पन्न कर ली जबकि भारत की पार्टी के पास 1951 तक क्रान्ति का कोई सुसंगत कार्यक्रम ही नहीं था। 1951 में रूस की पार्टी के नेताओं से वार्ता के बाद जारी नीति वक्तव्य को ही कार्यक्रम का आधार बनाया गया और सच पूछें तो आज भी वही कार्यक्रम किंचित हेरफेर के साथ भारत की सभी कम्युनिस्ट पार्टियों का कार्यक्रम है। 1951 के पहले भारत के कम्युनिस्ट ठोस राह सुझाने के लिए भी हमेशा अंतरराष्ट्रय नेतृत्व का मुंह जोहते रहे और दांये-बांये बाजू के भटकावों के बीच झूलते रहे, जबकि चीनी पार्टी के नेतृत्व ने इण्टरनेशनल और रूस की पार्टी का अन्तरराष्ट्रीय एवं विचारधारात्मक नेतृत्व मानते हुए अपने देश की ठोस परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर, गलतियां करते हुए भी, चीनी क्रान्ति की अपनी समझ स्वयं विकसित की और यहां तक कि कई बार तीसरे इण्टरनेशनल के नेतृत्व के सुझावों को भी नहीं माना।

दरअसल ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करके क्रान्ति के स्वरूप और रास्ते की समझ विकसित करने के लिए क्रान्ति के विज्ञान के सतत् गहन अध्ययन और सामाजिक-आर्थिक जीवन-स्थितियों के अध्ययन और प्रयोग के अन्तहीन चक्र को लगातार जारी रखने की ''जहमत'' उठानी पड़ती है। मध्यमवर्गीय जल्दबाजी का तकाजा यह होता है कि अतीत की किसी महान क्रान्ति से, या किसी महान पार्टी या नेता से, या अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से क्रान्ति के कार्यक्रम का बना-बनाया खांचा (फ्रेम) या नुस्खा ही उधार ले लिया जाये। भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन में आज भी यह दुष्प्रवृत्ति मौजूद है, जहां अधिकांश ग्रुप माओ का वफादार शिष्य होने के नाम पर चीनी लोक जनवादी क्रान्ति के प्रोग्राम के खांचे को उधार लेकर उसमें आज के भारत की परिस्थितियों की ठूंस-ठांस करने की कोशिश करते रहते हैं तथा विगत आधी सदी के अहम बदलावों की अनदेखी करते हुए लकीर की फकीरी करते रहते हैं। ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करके राह निकालने के लिए वैज्ञानिक साहस की दरकार होती है और इस मायने में हमें माओ का योग्य शिष्य होने की कोशिश करनी चाहिए। अन्धानुकरण या परीक्षा में नकल सबसे अयोग्य विद्यार्थी ही करते हैं।

(4) 1921 से 1949 तक ही नहीं, बल्कि 1976 तक **चीन की क्रान्ति और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास लगातार दो लाइनों के संघर्ष का इतिहास रहा है।** शुरू से लेकर अंत तक माओ के नेतृत्व में जारी सही लाइन को कभी दक्षिणपंथी तो कभी अतिवामपंथी भटकावों से लड़ते रहना पड़ा। इन संघर्षों के बीच ही सही लाइन तपी-मंजी और निखरी। चीनी क्रान्ति के इतिहास में ऐसे दस बड़े और निर्णायक दो लाइनों के संघर्षों का उल्लेख आता है। पार्टी में लाइनों का संघर्ष वस्तुतः समाज में जारी वर्ग संघर्ष की ही अभिव्यक्ति और प्रतिफलन है और यह उतना ही अपरिहार्य है जितना कि वर्ग संघर्ष। यदि किसी पार्टी में दो लाइनों का संघर्ष अनुपस्थित है तो इसका मतलब है कि उस पार्टी की लाइन और चरित्र क्रमशः कलुषित होते हुए विजातीय बनता जा रहा है। इसलिए लेनिन ने दो लाइनों के संघर्ष को पार्टी की सजीवता का बुनियादी कारक और लक्षण बताया था। चीन की पार्टी दो लाइनों के संघर्ष से गुजरते हुए लगातार अपने सर्वहारा चरित्र की हिफाजत कर सकी थी और इसीलिए इस सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति को अंजाम दे सकी थी। यह बहुमूल्य सबक दुनिया भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को हर-हमेशा याद रखना चाहिए।

❑

चीनी क्रान्ति जैसी किसी महान क्रान्ति की सभी शिक्षाओं को या उसकी अर्थवत्ता एवं महत्ता को न तो किसी एक छोटे निबन्ध में समेटा जा सकता है और न ही इसकी आवश्यकता है। हम जिस देश और काल में जी रहे होते हैं, उसी की जरूरतों के हिसाब से इतिहास के खजाने को खंगालते हैं और अतीत की क्रान्तियों की विरासत से जरूरी शिक्षा लेते हैं। महान चीनी लोक जनवादी क्रान्ति की पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर, हमने यहां कोशिश की है कि अपनी उस महान विरासत को मेहनतकश जनता और युवा क्रान्तिकारियों की नई पीढ़ी को एक संक्षिप्त सी झलक देने की कोशिश करें, जो पराजय की कठिन दिनों में भूलती जा रही है और पूंजीवादी बुद्धिजीवी जिसपर लगातार झूठ और कुत्सा-प्रचार की धूल-राख फेंक रहे हैं। साथ ही उस महाकाव्यात्मक शौर्यगाथा से प्रेरणा लेकर अपने संकल्पों को मजबूत करने के साथ-साथ हमने उस महान वैज्ञानिक प्रयोग से आगे की क्रान्तियों के लिए मिलने वाली सर्वाधिक बुनियादी और महत्वपूर्ण शिक्षाओं की (अपनी समझ से) भी यहां संक्षिप्त चर्चा की है। ●

जनता की वैकल्पिक सत्ता के केन्द्रों के रूप में क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य पंचायतें गठित करने का आह्वान

(बिगुल प्रतिनिधि)

विगत 9 अगस्त (भारत छोड़ो दिवस) के सत्तावनवीं वर्षगांठ पर उत्तर प्रदेश में क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान की विभिन्न इकाइयों ने अभियान के पांचवें चरण की शुरुआत की। अभियान के भागीदार संगठनों—**देहाती मजदूर किसान यूनियन, बिगुल मजदूर दस्ता, दिशा छात्र समुदाय, नौजवान भारत सभा, नारी सभा** और **दायित्वबोध मंच** ने संयुक्त रूप से इस चरण के अन्तर्गत नुक्कड़ सभाओं, नुक्कड़ नाटकों, व्यापक पर्चा वितरण और जनसम्पर्क के माध्यम से भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में देशी-विदेशी पूंजी की लूट और पतन की ओर अग्रसर संसदीय जनतंत्र के ठोस क्रान्तिकारी विकल्प को व्यापक रूप में प्रचारित-प्रसारित करने की शुरुआत की है।

अभियान के पांचवें चरण की शुरुआत करते हुए गोरखपुर में 9 अगस्त से 14 अगस्त तक दिशा छात्र समुदाय, बिगुल मजदूर दस्ता, नौजवान भारत और नारी सभा की संयुक्त अभियान टोली ने विभिन्न मुहल्लों में प्रभात फेरियां और साइकिल जुलूस निकाले तथा नुक्कड़ सभाओं का आयोजन किया। इसके अतिरिक्त विभिन्न सरकारी दफ्तरों में भोजनावकाश में कर्मचारियों के बीच सफदर हाशमी लिखित नुक्कड़ नाटक 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' को नया रूप देकर 'तमाशा' शीर्षक से मंचन किया। अभियान टोली ने विभिन्न कालोनियों-मुहल्लों में घर-घर जाकर घनीभूत जनसम्पर्क और पर्चा वितरण भी किया।

अभियान के इस चरण को आगे बढ़ाते हुए लोकसभा चुनावों के दौरान पूर्वी उत्तर प्रदेश, लखनऊ, ऊधमसिंह नगर, दिल्ली और निकटवर्ती औद्योगिक क्षेत्रों में विभिन्न इकाइयों ने पूंजीवादी चुनाव, चुनावी राजनीतिक दलों और संसदीय जनतंत्र के असली चरित्र का भण्डाफोड़ किया और क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य की स्थापना करने के लम्बे संघर्ष के रास्ते पर चलने का आह्वान किया।

इस दौरान आयोजित विभिन्न नुक्कड़ सभाओं में वक्ताओं ने मौजूदा पूंजीवादी जनतंत्र की असलियत का भण्डाफोड़ करते हुए कहा कि देश के मौजूदा संविधान के तहत जो चुनाव होते हैं वे वस्तुतः जन प्रतिनिधियों के चुनाव होते ही नहीं। चुनाव सिर्फ इस बात का होता है कि आने वाले पांच वर्षों तक सरकार के रूप में ''शासक वर्गों की मैनेजिंग कमेटी'' का काम किस पार्टी या गठबंधन के लोग सम्भालेंगे।

इसके विकल्प की तस्वीर स्पष्ट हुए अभियान के कार्यकर्ताओं ने लोगों को बताया कि मेहनतकश जनता को विदेशी पूंजी की जकड़बंदी से मुक्ति देशी पूंजी की जकड़बंदी से मुक्ति के साथ ही मिलेगी। मेहनतकश अवाम को वास्तविक आजादी तब मिलेगी जब वह मुनाफे और बाजार के लिए उत्पादन की पूरी व्यवस्था को नष्ट करके एक ऐसी व्यवस्था की बुनियाद रखे जिसमें उत्पादन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हो और पैदावार का समानतापूर्ण बंटवारा हो। यह तभी हो सकता है जब उत्पादन, राज-काज और समाज के ढांचे पर हर तरफ से, हर स्तर पर उत्पादन करने वालों का नियंत्रण हो—फैसले लेने और उसे लागू करवाने की पूरी ताकत उनके हाथों में केन्द्रित हो। यही वास्तविक जनवादी व्यवस्था होगी।

लोक स्वराज्य अभियान पर्चा संख्या-3 में **क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य पंचायतों** के रूप में मेहनतकश के वैकल्पिक केन्द्रों को गठित करने का आह्वान किया गया है। नुक्कड़ सभाओं और जनसम्पर्क के दौरान इसे स्पष्ट करते हुए अभियान के कार्यकर्ताओं ने बताया कि क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य पंचायतों को मौजूदा प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं के समानान्तर विकसित करना होगा। जिसमें गांव-गांव के स्तर पर, कारखानों के स्तर पर, शहरी मुहल्लों के स्तर पर किसान, मजदूर और आम मध्यवर्गीय जनता अपनी पहल पर खड़ी गयी पंचायती संस्थाओं में संगठित होंगे।

जनप्रतिनिधित्व की इन संस्थाओं के ऊपरी स्तरों पर चुनाव की प्रक्रिया स्पष्ट करते हुए कार्यकर्ताओं ने कहा कि इसमें न तो धन की और न ही नौकरशाही की कोई भूमिका होगी। गांवों, मुहल्लों, जिलों और राज्यों से लेकर केन्द्रीय स्तरों तक कायम होने वाली इन पंचायतों के लिए हर आम नागरिक को चुनने और चुने जाने का समान अधिकार होगा, पर शोषक वर्गों को ये अधिकार तबतक नहीं मिलेंगे जबतक कि नई व्यवस्था के प्रति उनकी वफादारी सिद्ध न हो जाये। चुनने वालों को यह भी पूरा अधिकार होगा कि वे चुने हुए प्रतिनिधियों को जब चाहे वापस बुला सकते हैं।

विगत चुनावों के दौरान आयोजित अभियान की नुक्कड़ सभाओं में पूंजीवादी राजनीति के पतन व भ्रष्टाचार से ऊबे और उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों की मार से त्रस्त आम गरीबों और मेहनतकशों के घरों के छात्रों-नौजवानों ने बेहद गम्भीरता से इन नयी बातों को सुना। चुनावी सभाओं में सस्ते राजनीतिक जुमलों और चुटकुलों पर बजने वाली तालियों और प्रायोजित नारेबाजियों के माहौल से अलग इन नुक्कड़ सभाओं में लोगों के चेहरों पर एक कौतूहल, चिन्तनशील भाव और भविष्य की धुंधली तस्वीरें बनती दीख रही थीं।

विशेष रूप से **चुनावी भण्डाफोड़**

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान के पांचवें चरण की शुरुआत

अभियान के तहत विगत 27 सितम्बर को **भगतसिंह** के जन्म दिवस और **देहाती मजदूर किसान यूनियन** की पांचवीं वर्षगांठ पर **नारी सभा** की स्थानीय इकाई द्वारा संयुक्त रूप से मऊ जिले के मर्यादपुर बाजार में आयोजित जनसभा बेहद प्रभावपूर्ण और सफल रही। सभा में शामिल होने के लिए गोरखपुर से दिशा, नारी सभा और बिगुल मजदूर दस्ता की टोली भी गयी थी। लगभग चार घण्टे तक चली सभा में लाल झण्डों के साथ मौजूद देहाती मजदूर किसान यूनियन और नारी सभा की कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त सैकड़ों की तादाद में आसपास के गांवों से आये खेतिहर मजदूरों, गरीब किसानों और मेहनतकश औरतों ने विभिन्न वक्ताओं की बातों को बेहद ध्यान से धैर्यपूर्वक सुना। सभा के बीच-बीच में देहाती मजूदर-किसान यूनियन और नारी सभा की संयुक्त सांस्कृतिक टोली ने क्रान्तिकारी लोकगीतों के जरिये भी क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान का संदेश पहुंचाया। सभा के अन्त में गोरखपुर से गयी टोली ने नुक्कड़ नाटक 'तमाशा' का मंचन किया जिसे खूब सराहा गया।

इस सभा को प्रमुख रूप से बिगुल मजदूर दस्ता के अरविन्द सिंह व आदेश कुमार, दिशा छात्र समुदाय के जयप्रताप सिंह, नारी सभा की मीनाक्षी एवं राजुली देवी तथा देहाती मजदूर किसान यूनियन के दूधनाथ, हरिहर यादव एवं इन्द्रदेव ने सम्बोधित किया।

चुनावों के दौरान चले इस अभियान के अनुभवों से यह स्पष्ट है कि चूंकि आम जनता के सामने कोई ठोस क्रान्तिकारी विकल्प नहीं है इसलिए पराजय एवं थकी-हारी मानसिकता में वह जातिवाद, क्षेत्रीयतावाद, सम्प्रदायवाद और फासिस्ट ताकतों के राजनीतिक खेल का मुहरा बनकर किसी न किसी पर ठप्पा मारकर अपने ही ऊपर हुकूमत करने वालों को चुनकर भेजती है। इस परिस्थिति पर टिप्पणी करते हुए क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान पर्चा संख्या-3 में कहा गया है कि ''...**जो आम जनता विकल्प के अभाव और थकी-हारी मानसिकता में इस तरह सोचती है, वही उम्मीद जगने के बाद पूंजीवादी व्यवस्था का क्रिया कर्म करके ही दम लेती है। इसलिए हम तमाम जिन्दा लोगों का आह्वान करते हैं कि अपनी थकी-हारी मानसिकता को छोड़कर आगे आयें और समूची आम जनता को पराजय, निराशा और निष्क्रियता के अंधेरे रसातल से बाहर आने के लिए ललकारें, जगायें।**

चुनावी राजनीति को धता बताओ! इन्कलाबी राजनीति का परचम उठाओ!!

रूद्रपुर (ऊधमसिंहनगर)। जब पूरे देश में चुनावी मदारियों के डमरू का शोर गूंज रहा था तब **'बिगुल मजदूर दस्ता'** की टोली तराई क्षेत्र में चुनावी राजनीति का भण्डाफोड़ करते हुए 'क्रान्तिकारी लोक स्वराज' का सन्देश जन-जन तक पहुंचा रही थी।

अभियान के दौरान इस टोली द्वारा नुक्कड़ों-चौराहों-मुहल्लों-कारखानों-दफ्तरों में संसदीय राजनीति का खुलासा करने वाले नुक्कड़ नाटक 'हवाई गोले' का मंचन किया गया, सभाएं की गयी और व्यापक पर्चा वितरण किया गया।

''घिरे हैं हम सवाल से हमें जवाब चाहिए, जवाब दर सवाल है कि इंकलाब चाहिए...'' शीर्षक पर्चे और सभाओं के माध्यम से आम जन से कहा गया कि महज तीन वर्षों के भीतर होने वाले इस तीसरे चुनाव का सैकड़ों करोड़ का बोझ आम जनता पर ही पड़ेगा। राजनीतिक अस्थिरता की समस्या पूंजीवादी व्यवस्था के असाध्य आर्थिक संकट का नतीजा है। फिर पूंजीवादी संकट की कीमत भला जनता क्यों चुकाये?

सभा में वक्ताओं ने कहा कि चुनाव में चाहे कोई भी जीते हारेगी तो जनता ही। अब वह समय आ गया है कि देशी-विदेशी लूट के खिलाफ क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य के परचम को ऊंचा उठायें और बुलन्द इरादों के साथ नई सदी में प्रवेश करें। एक ऐसे समाज की स्थापना के लिए जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढांचे पर उत्पादन करने वाली व्यापक मेहनतकश अवाम का वास्तविक अधिकार हो और निर्णय लेने की पूरी ताकत उसी के हाथों में हो। एक ऐसा समाज जिसमें उत्पादन मुनाफे और बाजार के लिए न होकर सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हो और उत्पादों का समानतापूर्ण बंटवारा हो।

अभियान मुख्यतः रूद्रपुर के रमपुरा, भदईपुरा, दुधियानगर, खेड़ा, संजयनगर, ट्रांजिट कैम्प, आवास विकास, मरकोटा इलाकों में तथा किच्छा, पंतनगर, लाल कुआं, हल्द्वानी, रानीबाग, काठगोदाम के विभिन्न इलाकों और कार्यालयों में चलाया गया जहां आम जनता से लोक स्वराज्य के उद्देश्यों पर व्यापक विचार-विमर्श भी किया गया। 'इलेक्शन या इंकलाब' का बिल्ला लगाये हुए अभियान टोली के कार्यकर्ता जगह-जगह ध्यानाकर्षण का केन्द्र बन जाते थे।

●

नैनीताल। 'दिशा छात्र समुदाय' के नेतृत्व में नैनीताल में घनीभूत जनसम्पर्क चलाया गया और क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य के पर्चे का व्यापक वितरण किया गया।

यहां चलाये गये अभियान के माध्यम से 'दिशा' के कार्यकर्ताओं ने कहा कि मेहनतकश जनता को लूटने के लिए उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को धुआंधार ढंग से लागू करने के सवाल पर सारी चुनावबाज पार्टियां एक हैं। छात्रों-नौजवानों और आम जनता के सभी तबकों का आह्वान किया गया कि वह चुनावी मदारियों को धता बताए और इसके एकमात्र विकल्प क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य को साकार करने के लिए लम्बे संघर्ष की तैयारी करे।

—बिगुल संवाददाता

डीजल मूल्य-वृद्धि के सरकारी तर्कों का पोलापन

(पेज 10 से आगे)

इस देश की जनता को तेल और बिजली अत्यन्त सस्ती दरों पर दी जा सकती है और बाहर से तेल की खरीद काफी घटाई जा सकती है या बंद की जा सकती है।

छठी बात, ऊर्जा की जरूरत के लिए बिजली पर निर्भरता भी पूंजीवादी अर्थतंत्र और उत्पादनतंत्र की अपनी लाचारी भरी अराजकता के ही कारण है। ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों के इस्तेमाल की बात महज बयानबाजी और रस्म अदायगी तक ही सीमित है। चाहे वह गांवों के विकेन्द्रित स्तर पर जैव ऊर्जा-उत्पादन की उन्नत तकनीक के चलन की बात हो, सौर ऊर्जा के अपरम्पार स्रोत की बात हो, पवन ऊर्जा या सागर-लहरीय ऊर्जा की बात हो या बड़े बांधों के बजाय छोटी-छोटी जल विद्युत परियोजनाओं और सिंचाई परियोजनाओं की बात हो—इन सभी क्षेत्रों में, तकनोलाजी बहुत ऊंची और दुर्लभ नहीं होने के बावजूद, कोई काम वास्तव में हुआ ही नहीं है। वर्ना इस देश में आज ही इतनी ऊर्जा पैदा हो सकती है कि एक लीटर तेल भी बाहर से न लेना पड़े और देश के हर गांव को विद्युतीकृत किया जा सकता है तथा यातायात-संचार के उन्नत तंत्र से जोड़ा जा सकता है।

लेकिन जाहिरा तौर पर, **साम्राज्यवादियों और देशी पूंजीपतियों के हितों की सेवा करने वाली किसी हुकूमत से यह उम्मीद कदापि नहीं की जा सकती। ऐसी व्यवस्था तो राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय बाजार के नियमों से चलती है। यदि कोई ऐसी लोकपरक व्यवस्था हो, जो बाजार में मुनाफा के लिए नहीं बल्कि लोगों की उपयोगिता के लिए उत्पादन करे, तभी समस्या हल हो सकती है।** मिट्टी तेल, रसोई गैस, डीजल, पेट्रोल, जलावन की लकड़ी, बिजली—ऊर्जा के सभी साधनों की समस्या को एक करके देखें और देखें कि यदि हुकूमत मुनाफाखोरों के बजाय जनता के हाथों में हो तो यह समस्या किसतरह हल की जा सकती है! क्योंकि हम जानते हैं कि किसी शोषणमुक्त समाज में ऊर्जा की समस्या यदि हल हो तो विकास की गाड़ी कहीं नहीं रुक सकती।

●

यदि कोई जनता की क्रान्तिकारी हुकूमत हो तो सबसे पहला काम तो वह यह करेगी कि शहरों से लेकर दूरगामी यात्राओं तक के लिए सार्वजनिक परिवहन-व्यवस्था (रेल, बस, ट्राम, मेट्रो, लोकल ट्रेन आदि) को ज्यादा से ज्यादा सुविधाजनक बनाकर निजी कारों आदि को प्रतिबंधित कर देगी। इससे ऊर्जा की भारी बचत होगी, प्रदूषण भी कम होगा और सड़कों पर दुर्घटनाएं भी घट जायेंगी। इसीतरह भारत जैसे गरीब देश में एक लम्बे समय के लिए एयर-कण्डीशनरों और मंहगे विद्युत उपकरणों पर तथा तड़क-भड़क दिखावे पर बिजली के खर्चों पर रोक लगा दी जानी चाहिए। बड़े पैमाने पर सामूहिक भोजनालयों और भोजन रखने की बड़े पैमाने की प्रशीतन (रेफ्रीजरेशन) सुविधा से ऊर्जा की बचत बढ़ाई जा सकती है। पारेषण में होने वाले बिजली के अपव्यय को कम करके प्रति वर्ष अरबों की ऊर्जा बचाई जा सकती है। सवाल यह भी उठ सकता है कि सड़क, रेल पथ, पारेषण आदि को अपने बूते पर ठीक करने का काम एक गरीब देश कैसे करेगा? इसका उत्तर अतीत में भी समाजवादी देश व्यवहार से दे चुके हैं। पूंजी की कमी की भरपाई व्यापक श्रमशक्ति से की जाती है और यदि जनता का अपना शासन हो तो वह अपनी अपार सर्जनात्मकता से, बिना विदेशी मदद के, जरूरी तकनीक विकसित कर लेती है। तीसरी जरूरत कच्चे माल की है, सो उसकी भारत में कमी नहीं है। यह तो हुई एक नियोजित अर्थव्यवस्था व सामाजिक व्यवस्था में होने वाली बचत की बात। अब ऊर्जा-उत्पादन में वृद्धि की बात करें।

कोई भी क्रान्तिकारी लोक सत्ता अपनी देशी तकनोलॉजी को उन्नत करके, अपने वैज्ञानिकों और जनता के बूते पर, साम्राज्यवादियों को ठेंगा दिखाकर विशाल भारत के जमीनी क्षेत्र व समुद्री क्षेत्र की विराट-अछूती तेल-संभावनाओं का दोहन व शोधन कर सकती है। आज से करीब 60-70 वर्षों पहले सोवियत संघ ने और करीब 40-50 वर्षों पहले चीन व पूर्वी यूरोप के देशों ने बिना पश्चिमी मदद के यह कर दिखाया था। भारी श्रमशक्ति के द्वारा पूंजी की कमी की समस्या हल की जा सकती है। तेल और गैस को संग्रह करने व इस्तेमाल करने की तकनीक उन्नत करने तथा पाइप लाइनों के द्वारा उन्हें ले जाने की व्यवस्था बनाने के संबंध में भी यह बात लागू होती है।

दूसरे, ऊर्जा के जिन वैकल्पिक साधनों की हमने ऊपर चर्चा की है, उनपर हमारे देश में, तकनोलॉजी की उपलब्धता के बावजूद लगभग नहीं के बराबर काम हुआ है। गांवों में यदि कम्यून व्यवस्था हो तो जैव ऊर्जा संयंत्र और सौर ऊर्जा सयंत्र लगाकर उन्नत स्तर की दैनन्दिन जरूरत लायक ऊर्जा भी स्थानीय तौर पर ही पैदा की जा सकती है। सौर ऊर्जा का इस्तेमाल तो शहरों और औद्योगिक बस्तियों में भी घरों से लेकर कारखाने चलाने तक में बड़े पैमाने पर किया जा सकता है। **दुनिया में ऐसा इसलिए नहीं हो रहा है कि तेल और बिजली की व्यापारी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां ऐसा नहीं होने देतीं।** यही स्थिति पवन ऊर्जा और सागरीय लहर ऊर्जा की है (जिनकी भारत में प्रचुर उपलब्धता है) और यही स्थिति 'फिशन' के बजाय 'फ्यूजन' प्रणाली से नाभिकीय ऊर्जा-उत्पादन के तकनीक को विकसित करने की है (जिससे रेडियोधर्मी प्रदूषण का खतरा भी नहीं होता)। पारिस्थितिक असन्तुलन पैदा करने वाले बड़े बांधों के बजाय, हमारे देश की छोटी-बड़ी नदियों पर छोटे बांध बनाकर स्थानीय श्रम शक्ति व कम लागत के सहारे काफी ऊर्जा पैदा की जा सकती है और उपयुक्त सिंचाई- व्यवस्था भी तैयार की जा सकती है।

●

पूंजीवादी व्यवस्था में तरह-तरह से प्रचार करके जनता को बताया जाता है कि ऊर्जा-संकट भयंकर और निरुपाय कर देने वाला है तथा डीजल-बिजली आदि की मंहगाई एक मजबूरी है और ''विकास की जरूरत'' है।

सच यह है कि डीजल-बिजली हो या दवा हो, उसकी कीमत को अन्तरराष्ट्रीय कीमतों से जोड़ना सिर्फ एक ऐसी पूंजीवादी हुकूमत की ही मजबूरी हो सकती है, जो विश्व पूंजीवादी तंत्र में एकरूप होकर ही, उस तंत्र के बड़े चौधरियों के मातहत होकर ही, कायम रह सकती है। किसी भी क्रान्तिकारी व्यवस्था की—एक समाजवादी व्यवस्था की ऐसी कोई मजबूरी नहीं हो सकती। साथ ही भारत जैसे देश की समाजवादी व्यवस्था, बड़े आराम से, जनता की श्रमशक्ति और तकनीकी कौशल के बूते पर ऊर्जा के तमाम स्रोतों का दोहन करके, उसके विलासितापूर्ण अपव्यय व चोरी को रोककर तथा हर बुनियादी आवश्यकता की तरह महज लागत मूल्य पर (जो कि नाम-मात्र ही होगा) ऊर्जा का भी समतामूलक वितरण करके विकास को मनचाही गति दे सकती है और जनता की जिन्दगी को कठिन से कठिनतर बनाने के विपरीत सुगम से सुगमतर बनाने का काम लगातार जारी रख सकती है।

भाजपा गठबंधन की ठगी : डीजल की कीमतों में चालीस फीसदी वृद्धि

डीजल मूल्य-वृद्धि के सरकारी तर्कों का पोलापन और कुछ व्यापक सवाल

क्या मूल्यवृद्धि हर हाल में अपरिहार्य है ?

ऊर्जा-संकट का कारण पूंजीवादी व्यवस्था है या तकनीक व पूंजी की कमी या वितरण की असमानता व फिजूलखर्ची या ऊर्जा स्रोतों की क्रमशः होती कमी ?

पूंजीवादी व्यवस्था की जगह यदि कोई समाजवादी व्यवस्था हो तो वह ऊर्जा-संकट का समाधान किस प्रकार करेगी ?

● रघुवंश मणि

विश्व पूंजीवाद की स्थिति आज ऐसी है कि भारज जैसे पिछड़े-गरीब देशों की पूंजीवादी सरकारें ठगों के उन गिरोहों के समाज काम करने लगी हैं जो बस अड्डों-रेलवे स्टेशनों पर घात लगाकर मुसाफिरों की गठरी उठाकर खिसक लेते हैं। ''सदाचारी'' भाजपाइयों और उनके सहयोगी बड़बोले समाजवादियों की सरकार ने पिछले दिनों डीजल की कीमतों में बढ़ोत्तरी कुछ इसी अन्दाज में की।

भाजपा सरकार जब तक गिरी नहीं थी, तबतक चुनावी लोकरंजकता के तकाजों के चलते वह उदारीकरण-निजीकरण सम्बन्धी कई एक अहम फैसलों को लागू करने में हिचकती रही। संसद में विश्वास मत पाने में असफल होने के बाद कामचलाऊ सरकार के तौर पर काम करते हुए उसने लगातार कई अहम फैसले लेकर बड़े पूंजीपतियों का विश्वासभाजन बनने और मोटा चुनावी चन्दा बटोरने की भरपूर कोशिश की। और तेरहवीं लोकसभा के लिए मतदान खत्म होने के बाद अभी वोटों की गिनती चल रही थी, तभी, नई सरकार बनने का इन्तजार किये बिना, उन्होंने डीजल की कीमतों में एकमुश्त चालीस फीसदी की बढ़ोत्तरी कर दी। जाहिर है कि यदि वह ये फैसला चुनाव के पहले करती तो चुनाव में सत्तारूढ़ गठबंधन के कोई असंतुष्ट सहयोगी इसे मुद्दा बनाकर खींचातानी कर सकते थे और थोड़े अन्तर से बहुमत होने की स्थिति में सरकार के लिए खतरनाक स्थिति भी बन सकती थी। इसलिए सँधिकाल में यह निर्णय लिया गया।

जाहिर है कि इस निर्णय का सीधा असर आम जनता के जीवन पर पड़ेगा। सब्जियों, आलू-प्याज से लेकर राशन और किराने के सभी सामानों की कीमतें बढ़ जायेंगी क्योंकि अब उनकी ढोक ढुलाई और आपूर्ति का खर्च बढ़ जायेगा। इस बढ़े खर्च की आड़ में आढ़ती-व्यापारी जो मनमानी करेंगे सो अलग।

और नंगी और कड़वी सच्चाई तो यह है कि, **डीजल की कीमतों में यह बढ़ोत्तरी तो महज एक शुरुआत है। 1997 में उदारीकरण की नीतियों पर अमल के तहत जब तेल की कीमतों को अंतरराष्ट्रीय कीमतों से जोड़ने का फैसला किया गया था तभी यह तय हो गया था कि डीजल, मिट्टी के तेल और रसोई गैस की कीमतों में भी भारी वृद्धि करनी पड़ेगी।** उससमय एक पतले धागे से टिकी संयुक्त मोर्चे की सरकार ने और फिर वैसे ही मकड़ी की तरह लटकी भाजपा सरकार ने ऐसा अलोकप्रिय कदम उठाना उचित नहीं समझा। काम चलाने के लिए पेट्रोल की कीमतों में किश्तों में दो बार बढ़ोत्तरी की गई जिसे कार-गाड़ी वालों ने थोड़ा भुनभुनाकर और स्कूटर, मोटरसाइकिल, टैक्सी चलाने वालों की आबादी के छोटे से प्रतिशत हिस्से ने थोड़ा कांख- किंकियाकर झेल लिया। अब जब थोड़े आरामदेह बहुमत के साथ और हर कीमत पर सरकार चलाने की जिद के साथ तथा बड़े पूंजीपतियों के एकजुट समर्थन से भाजपा गठबंधन सत्ता में आया है तो वह ऐसे तमाम ''कठोर कदम उठाने'' के संकल्पों से लैस है। फिर भी डीजल की कीमतें बढ़ाने के मामले में उसने समुचित एहतियात बरता और सरकार बनने के पहले ही ऐसा करना बेहतर समझा। उसे एक प्रमुख डर यह था कि बाद में धनी किसानों में आधार वाले अकाली नेता, चौटाला या चन्द्रबाबू नायडू जैसे सहयोगी अपने जनाधार की चिन्ता में कहीं अड़चनें न पैदा कर दें।

डीजल की कीमतें बढ़ाने के पीछे का सरकारी तर्क यह था कि ऑयल पूल का घाटा (यानी विश्व बाजार से मंहगी अंतरराष्ट्रीय दरों पर खरीद और सस्ती दरों पर बिक्री के अंतर से पैदा हुआ घाटा) अब सरकार के बूते के बाहर हो चुका था। इससमय ऑयल पूल का घाटा एक खरब रुपये का है। डीजल की कीमतें बढ़ाकर सरकार 66 अरब रुपये अतिरिक्त वसूलेगी। फिर भी 34 अरब रुपये का घाटा बना रहेगा। जाहिर है कि इस घाटे की भरपाई आने वाले दिनों में मिट्टी के तेल और रसोई गैस की कीमतें बढ़ाकर की जानी है। और यह भी जाहिर है कि तबतक अंतरराष्ट्रीय बाजार में कीमतें और बढ़ जायेंगी। अतः स्पष्ट है कि लगातार तेल-मूल्यों में वृद्धि का यह सिलसिला उदारीकरण के नये दौर में लगातार जारी रहना है। और जनता लगातार बढ़ती मंहगाई की मार झेलती रहेगी।

विश्व पूंजीवादी तंत्र से जुड़े हुए हर गरीब पूंजीवादी देश के सत्ताधारियों की आज यह मजबूरी है कि वे तेल-मूल्यों में वृद्धि का बोझ गरीब जनता पर डालें। विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के तलछटी अंग होते हुए भी, जबतक भारत जैसे देश के पूंजीवादी शासक अपने ही वर्गीय हितों की हिफाजत के लिए कुछ संरक्षणवादी नीतियां लागू कर रहे थे, तबतक थोड़ी गनीमत थी। पर उदारीकरण के दौर में तेल, दवाएं व अन्य कई चीजों की कीमतों को उन्हें अन्तरराष्ट्रीय कीमतों से जोड़ना ही है, जबकि दूसरी ओर सस्ते श्रम और कच्चे माल की उपलब्धता के कारण जो भारतीय माल पश्चिमी बाजारों में सस्ता पड़ता है, उन्हें तरह-तरह की संरक्षणवादी धांधली के द्वारा साम्राज्यवादी अपने देशों में घुसने से रोक रहे हैं और कोशिश कर रहे हैं कि भारत के ऐसे मालों के उत्पादक उद्यमों को ही या तो तबाह कर दें या कब्जा कर लें।

तेल के सवाल पर वापस लौटें। **पूरी दुनिया में तेल का अर्थशास्त्र शुरू से ही अमीर देशों के अनुकूल बना हुआ है। भारत के पूंजीवादी शासकों ने कभी भी कोई देशी, जनपरक तेल-नीति बनाने की कोशिश नहीं की क्योंकि इनके हित भी व्यापक तौर पर साम्राज्यवादी हितों से ही जुड़े हैं और यह तेल-उद्योग के मगरमच्छों से बैर नहीं ले सकते।** इस प्रश्न के विविध पहलुओं को एक-एक करके लें।

पहली बात, स्वतंत्र भारत की पूंजीवादी सरकार ने विगत आधी सदी के दौरान इस विशाल देश की जमीनी और समुद्री क्षेत्र की तेल-संभावनाओं का पूरीतरह पता नहीं लगाया है और जितनी सम्भावनाओं का पता लगा है, उसके एक बहुत छोटे हिस्से का ही दोहन किया गया है।

दूसरी बात, तकनोलॉजी के क्षेत्र में विदेशी निर्भरता और देशी शोध एवं तकनीकी विकास की कमी के कारण तेल निकालने और शोधन का काम पहले तो पूरीतरह विदेशी कम्पनियों के ही हाथों में था तथा अब राष्ट्रीकरण के बाद भी तकनीक और पूंजी के लिए अमीर पश्चिमी देशों पर निर्भरता बनी हुई है।

तीसरी बात, उपरोक्त कारणों से देश में उपलब्ध तेल हमारी जरूरतों से काफी कम रहा है और उपलब्ध देशी तेल की कीमत भी (विदेशी तकनोलॉजी व पूंजी के कारण) सस्ती नहीं पड़ती रही है। और अब उदारीकरण के दौर में यदि तेल निकालने व शोधन की लागत कम कर भी ली जाये तो भी उसे देशी बाजार में अंतरराष्ट्रीय मूल्य पर ही बेचना होगा।

चौथी बात, तेल को संग्रह करने और इस्तेमाल करने की तकनीक और तंत्र का विकास नहीं होने के कारण अरबों रुपयों की गैस हमारे तेल-कूपों में जला दी जाती है। तकनीक की ही कमी के कारण तेल कूपों की पूरी क्षमता का दोहन भी नहीं हो पाता है।

पांचवी बात, हमारे देश की पन्द्रह फीसदी धनी आबादी—पूंजीपति, व्यापारी, काले धन और काले धंधे वाले लोग, डॉक्टर, इंजीनियर, नौकरशाह और नेतागण विलासिता के अन्य साधनों की ही तरह तेल व ऊर्जा के अन्य साधनों का भी बेहिसाब इस्तेमाल करते हैं और अमीर देशों के धनिकों को टक्कर देते हैं। यातायात-परिवहन के सार्वजनिक साधनों की स्थिति बद से बदतर है जबकि निजी कारों-गाड़ियों की सड़क पर भीड़ लगातार बढ़ती जा रही है। देश में उपलब्ध सभी तरह की ऊर्जा के 85 फीसदी हिस्से का इस्तेमाल 15 फीसदी ऊपर की आबादी विलासिता पर करती है। साथ ही, बिजली की कुल चोरी का 95 फीसदी छोटे-बड़े उद्योगपतियों के कारखानों और व्यापारिक संस्थानों में होता है। यदि बिजली की विलासिता (एयरकण्डीशनर आदि-आदि) और तेल की विलासिता (निजी गाड़ियां) रोक दी जायें और सार्वजनिक परिवहन के तंत्र को व्यापक व सुविधाजनक बना दिया जाये, यदि देश स्तर पर सामान की ढुलाई के लिए डीजल व बिजली इंजनों से युक्त रेल-परिवहन का ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल की व्यवस्था कर दी जाये, यदि बिजली की चोरी रोक दी जाये, यदि सरकारी दफ्तरों में ऊर्जा की भयंकर फिजूल खर्ची रोक दी जाये, यदि गैस और तेल की ढुलाई सड़क व रेलमार्ग के बजाय इस विशाल देश में पाइप लाइनों के द्वारा किया जाये, और, यदि पारेषण के दौरान बर्बाद होने वाली बिजली की भारी मात्रा को महज दुर्व्यवस्था रोककर एक हद तक बचा लिया जाये, तो

(पेज 11 पर जारी)

डी.टी.सी. की डकैती : बस-किराया एकमुश्त दूना करके दिल्ली की कांग्रेसी सरकार ने लाखों मजदूरों-कर्मचारियों को कलम की नोक पर लूटा!

केन्द्र की भाजपा सरकार ने डीजल के कीमतों में 40 फीसदी की एकमुश्त बढ़ोत्तरी की, तो दिल्ली की कांग्रेसी सरकार ने दिल्ली परिवहन निगम का किराया बढ़ाकर ठीक दूना कर दिया। भाजपाई और कांग्रेसी, दोनों ही सरमायेदारों के प्रति अपनी वफादारी सिद्ध करने के लिए जनता को गिद्धों-कुत्तों की तरह नोंचने-चोंथने पर आमादा हैं।

किराया दूना करने के साथ ही मासिक बस पास की कीमत 250 रुपये से बढ़ाकर 450 रुपये और बेटिकट यात्रा पर लगने वाला जुर्माना 20 रुपये से बढ़ाकर 100 रुपये कर दिया है। दिल्ली के परिवहन मंत्री परवेज हाशमी का कहना है कि डी.टी.सी. को हर माह साढ़े तेरह करोड़ रुपये का घाटा हो रहा था, जो उठा पाना अब वैसे भी संभव नहीं रह गया था। ऊपर से डीजल की कीमत भी बढ़ गई।

मंत्री महोदय के धोखाधड़ी-भरे तर्क को समझने के लिए महज कुछ आंकड़ों की दरकार है। सरकार ने किराया 100 फीसदी बढ़ाया है, जबकि डीजल की बढ़ी हुई कीमत के चलते जो अतिरिक्त बोझ पड़ेगा वह कुल खर्च का मात्र 6 प्रतिशत ही है। डी.टी.सी. के बेड़े में इस समय तीन हजार बसें हैं। डीजल की बढ़ी कीमत के चलते प्रतिदिन प्रति बस अतिरिक्त खर्च करीब 250 रुपये होगा। इस हिसाब से 3,000 बसों पर साल भर में कुल अतिरिक्त बोझ 27 करोड़ 37 लाख 50 हजार रुपये का पड़ेगा। हाशमी साहब के अनुसार डी.टी.सी. को प्रतिमाह साढ़े तेरह करोड़ रुपये यानी सालाना 1.62 अरब रुपये का घाटा पहले से ही हो रहा था। डीजल की बढ़ी कीमतों के अतिरिक्त बोझ और इस घाटे को जोड़ दें तो यह होगा । अरब 89 करोड़ 37 लाख हजार रुपये। यह हुआ अब होने वाला डी.टी.सी. का सालाना घाटा।

और इसके बदले में यह ठग सरकार जनता से वसूल कितना रही है? खुद परिवहन विभाग के अपने ही आंकड़ों के अनुसार बढ़े हुए किराये से सालाना । अरब 96 करोड़ 36 लाख रुपये की अतिरिक्त आय और बस पास की मूल्य-वृद्धि से सालाना अतिरिक्त आय 36 करोड़ रुपये होगी। दोनों को जोड़कर कुल अतिरिक्त आय हुई 2 अरब 32 करोड़ 36 लाख रुपये। यानी । अरब 89 करोड़ 37 लाख 50 हजार रुपये के घाटे को पूरा करने के लिए दिल्ली सरकार जनता से कुल 2 अरब 32 करोड़ 36 लाख रुपये वसूल रही है। यह विशुद्ध धोखाधड़ी और ठगी नहीं तो भला और क्या है? लेकिन यदि यह ठगी नहीं भी होती तो भी किराया वृद्धि के पीछे के सरकारी तर्कों पर कुछ और सवाल हैं।

रेल या बस के किरायों में लगातार बढ़ोत्तरी के पीछे केन्द्र और राज्य की सरकारें—चाहे वे किसी भी पार्टी की हों, यह तर्क देती हैं कि अब सरकार सब्सिडी देकर घाटे की भरपाई नहीं कर सकती, अतः अब पूरा खर्चा जनता को ही उठाना होगा। आई.एम.एफ., विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन और इनके पीछे खड़े पश्चिमी साम्राज्यवादी लुटेरों का भी लगातार यही कहना है कि सरकार हर ऐसे मद में—किराया-भाड़ा, शिक्षा, स्वास्थ्य, खेती आदि में अनुदान देना बन्द करे और इनका पूरा खर्च जनता से ले तथा फिर जल्दी से जल्दी रेल-बस परिवहन, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के पूरे तंत्र को पूंजीपतियों के हाथों में दे दे।

सबसे पहले बात जो इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है वह यह कि पश्चिम के सभी देशों में विशेषकर शहरी परिवहन सेवाएं—बस, ट्राम, मेट्रो आदि भारी घाटे में, सरकारी अनुदान के सहारे चलती हैं। स्वास्थ्य-शिक्षा सेवाएं आदि भी जिस हद तक सरकारी क्षेत्र में हैं, उस हद तक सब्सिडी पर ही चलती हैं तथा कृषि को तो हर देश में भारी सब्सिडी दी जाती है। फिर ये ही पश्चिमी देश भारत जैसे गरीब देशों पर उल्टी शर्तें क्यों लाद रहे हैं? ऐसा इसलिए कि ज्यादा से ज्यादा मुनाफे की लूट के लिए ये लुटेरे गरीब देशों की जिन्दगी की बुनियादी जरूरतों को भी बाजार की वस्तु बना देना चाहते हैं। और देशी पूंजीपतियों की सत्ता उनकी शर्तों को मानती क्यों जा रही है? इसलिए कि वे भी तो लूट की बहती गंगा में हाथ धोयेंगे! और फिर आज अपने लूट तंत्र को चलाने और विकसित करने के लिए देशी पूंजीपतियों के विदेशी लुटेरों से पूंजी और तकनोलॉजी की जो मदद चाहिए, वह तभी मिल सकती है जब वे उनकी शर्तों को मानें और उनके 'जूनियर पार्टनर' बन जायें।

सरकार जो भी सब्सिडी देती है, वह पूंजीपतियों के बाप के घर से नहीं देती, जनता से ही तरह-तरह के (मुख्यतः परोक्ष) कर वसूल कर देती है। फिर भी यदि वह घाटे की भरपाई नहीं कर पाती तो इसे उन पूंजीपतियों-व्यापारियों पर नये कर लगाने चाहिए, उन काले धंधे वालों से वसूली करनी चाहिए और उन अफसरों से पैसे निकालने चाहिए, जिनकी थैलियां मोटी होती जा रही हैं और उफना रही हैं। पर सरकार यह भला कैसे करेगी? वह इन्हीं धन्ना सेठों की तो 'मैनेजिंग कमेटी' है। सरकारी तंत्र, संसद और अफसरशाही की फालतू मौज-मस्ती पर इस गरीब देश में खरबों रुपये मासिक खर्च होते हैं। इसकी संक्षिप्त बानगी हम 'बिगुल' के पिछले अंक में दे चुके हैं। पर जाहिर है कि एक पूंजीवादी हुकूमत से यह उम्मीद करना हद दर्जे की मासूमियत होगी। वह तो ऐसे ही कदम उठायेगी जैसा कि दिल्ली सरकार ने उठाया है। उसे इस बात से भला क्या मतलब कि महीने में बमुश्किल तमाम डेढ़-दो हजार रुपये कमाने वाले स्थाई मजदूर या टेक्नीशियन, हजार-बारह सौ कमाने वाले दिहाड़ी या ठेका मजदूर और कट-पिटकर तीन-हजार पाने वाले एक कर्मचारी के लिए अब नांगलोई से वजीरपुर या सीलमपुर से ओखला तक या शाहदरा से केन्द्रीय सचिवालय तक बस में चढ़कर जा पाना कितना कठिन हो गया है!

इस सरकारी अंधेरगर्दी का एक और कारण है। दरअसल आने वाले कुछ वर्षों के भीतर देश के अन्य महानगरों की परिवहन सेवाओं के साथ ही डी.टी.सी. को भी धीरे-धीरे पूरीतरह निजी हाथों में सौंप दिया जायेगा। अभी जो प्राइवेट बसें चल रही हैं, उनके मालिक तो गली के ठग हैं। असली डकैत तो अब मैदान में कूदने वाले हैं। महानगरीय परिवहन सेवाओं को हाथ में लेते ही निजी पूंजीपति यदि तुरत किराया बढ़ाते तो जनता तुरत निजीकरण के खिलाफ हो जाती। इसलिए बड़ी चतुराई से पहले से ही किराया बढ़ाने का सिलसिला शुरू कर दिया गया है।

● सुधाकर

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वानी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग: कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ।
संपादकः डा. दूधनाथ। सम्पादकीय पता: द्वारा ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 006. सम्पादकीय उपकार्यालय: जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

विशेष बहस परिशिष्ट

वर्ष 1 अंक 9 अक्टूबर 1999 आठ पृष्ठ

बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर बहस को आगे बढ़ाते हुए

प्रति,
सम्पादक
बिगुल 21 अगस्त 1999

प्रिय साथी,

मेरे पत्र को अपने अखबार में छापने के लिए धन्यवाद स्वीकार करें। जुलाई, 1999 के अंत में अंक 6-7 की प्रति प्राप्त हुई। इसमें अन्य सामग्री के साथ आपका जवाब भी पढ़ा। जवाब में आपने बहस को आगे बढ़ाने का वादा किया है, अत: यह प्रतिक्रिया भेज रहा हूं।

सबसे पहले मैं यह आपत्ति दर्ज कराना चाहूंगा कि मेरे पत्र की वास्तविक तिथि 6 मई, 1999 थी। परन्तु **बिगुल** में आपने इसे 5 जून, 1999 छाप दिया है। यह 'प्रूफ' की एक सामान्य गलती हो सकती है और सामान्य स्थितियों में मैं इसे चिन्हित भी नहीं करता। परन्तु इस समय इसे चिन्हित करके ठीक कर लेना जरूरी है क्योंकि इससे हमारे-आपके बीच और **बिगुल** के पाठकों, दोनों के लिए गलतफहमियां पैदा सकती है। आपके जवाब की तारीख 20-6-99 है। अत: यहां यह साफ हो लेने की जरूरत है कि आपके पास मेरे पत्र का जवाब तैयार कर लेने के लिए पर्याप्त वक्त था और कि यह जवाब आप की सोची-समझी अवस्थिति है।

आपके जवाब पर सामान्य टिप्पणी

आपके जवाब पर हमारी सामान्य प्रतिक्रिया यह है कि इसमें :

- आपने अपने विरोधी की बातों को तोड़-मरोड़ कर पेश किया है। इतना ही नहीं, आपने अपने विरोधी के मुंह में वे बातें भी ठूंसने की कोशिश की है, जो उसने कही ही नहीं हैं। कई बार तो आप अपने विरोधी की सुस्पष्ट लिखित अवस्थिति से ठीक उल्टी बात उसके मुंह में ठूंसने की कोशिश करते हैं।
- आपने हमारी ही नहीं लेनिन और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की लिखित बातों और ऐतिहासिक तथ्यों को भी तोड़-मरोड़ कर पेश किया है।
- आपने मूल विषय से बहस को भटकाने की कोशिश की है। इसके लिए आपने बड़े-बड़े शब्दों, भारी भरकम वाक्यांशों का भी प्रयोग किया है। इसके अलावा, आपने बहस को नये विषयों पर सरकाने की कोशिश की है।

लेनिन ने एक जगह लिखा है, "राजनीति में ईमानदारी ताकत का परिणाम होती है और पाखण्ड कमजोरी का परिणाम होता है।" (वाद-विवाद सम्बन्धी टिप्पणियां, संग्रहीत रचनायें, खण्ड 17, पृष्ठ 166, 1963 अंग्रेजी संस्करण, अनुवाद हमारा) क्रान्तिकारियों के बीच के रिश्तों में और उनके बीच चलने वाली बहसों में ऐसी गलत कार्यशैली अपनाना कहीं से भी स्वस्थ बात नहीं है। अपने पत्र में हम आप की इस गलत कार्यशैली को विशिष्ट तौर पर कई बार चिन्हित करेंगे। परन्तु इसके बावजूद, हम इन बातों पर आपकी बहुत विस्तृत आलोचना नहीं करेंगे क्योंकि, हम नहीं चाहते कि बहस अपने मूल विषय "बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप" से भटक कर इन्हीं बातों में उलझ कर रह जाये। आपके गैर-राजनीतिक आचरण को दरकिनार करके हम बहस को मूल विषय पर ही केन्द्रित करेंगे। अत: पत्र के अगले भाग में कुछ महत्वपूर्ण गलतियों को उनकी विशिष्टता में चिन्हित करने के बाद हम सीधे बहस को मूल विषय पर केन्द्रित करने का प्रयास करेंगे।

बिगुल द्वारा 'पालिमिक्स' संचालित करने की गलत कार्यशैली

सर्वप्रथम, हम यह स्पष्ट करने की जरूरत समझते हैं कि हमने अपने पत्र में कोई शीर्षक नहीं दिया था। हमारे पत्र के ऊपर शीर्षक लगाने का काम आपने किया है। किसी के पत्र को शीर्षक देना कतई गलत नहीं है। परन्तु ईमानदारी का तकाजा यह है कि सम्पादक पत्र की मूल भावना के अनुरूप शीर्षक दे। सम्पादक के पास यह नैतिक अधिकार तो कतई नहीं होता कि वह शीर्षक में ऐसी बातें लिखे जो पत्र में बिल्कुल न हों। 6 मई, 1999 के पत्र में कहीं पर भी "कैरियरवादी बुद्धिजीवी" शब्द इस्तेमाल नहीं किया गया है। हमने आपको "कैरियरवादी बुद्धिजीवी" नहीं कहा है। तब किस नैतिक जमीन पर खड़े होकर आप इसे शीर्षक में डालते हैं? ऐसी शैली अपनाकर आप **बिगुल** के पाठकों की निगाह में गिरते हैं।

मेरे पत्र में 'बुद्धिजीवी' शब्द जरूर 3-4 बार आया है। वह भी पृष्ठ 5 के तीसरे कालम के पहले और दूसरे पैरा में (**बिगुल** के अंक 6-7 में)। यह हिस्सा पढ़ने पर किसी को लग सकता है कि हमने 'कैरियरवादी बुद्धिजीवी' तो नहीं परन्तु 'बुद्धिजीवी' शब्द इस्तेमाल किया। यहां भी गलती हमारी नहीं, आपकी है। आपने इन पैराग्राफों पर से उद्धरण चिन्ह (Quotation Mark) गायब कर दिये हैं। इनको पढ़कर ऐसा लगने लगता है कि ये बातें लेनिन की पुस्तक 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' से न होकर हमारी अपनी बातें हैं। अगर यह हमारी अपनी बात होती, तब तो शायद आपको इसे शीर्षक में देने का नैतिक अधिकार होता। परन्तु अपनी प्रस्थापनाओं को स्थापित करने के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले उद्धरणों में से शब्द को पकड़कर शीर्षक में इस्तेमाल करना ईमानदारी भरी बहस का परिचायक नहीं होता। ऐसे काम को तोड़-मरोड़ कर पेश करना कहते हैं।

दूसरी बात यह कि आपने अपने जवाब में हमें अनेक विश्लेषणों और मनगढ़न्त आरोपों से सुशोभित किया है। ये हैं—भौंड़े अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी, सामाजिक जनवादी प्रवृत्तियां, सामाजिक जनवादी भटकाव, सामाजिक जनवादियों की छिछोरी शैली, मूल सामाजिक-जनवादी प्रकृति के भौंडे उत्पाद, राबांचेये देलो और राबांचाया मौस्ल की प्रारम्भिक अर्थवादी प्रवृत्ति की श्रेणी में आने वाले, फिल्मी वकील, क्रोडो मतावलम्बी, कायराना राजनीतिक पुछल्लावाद, आर्थिक अवसरवादियों, पराजयवादी मानसिकता, आंगन की मुर्गी, मजदूरों को कोसने वाले, आप जैसों की पैदा होने वाली ज्यादा गंवारू भौंड़े क्रान्तिकारियों की धारा, बंदरकुद्दी मारने वाले, कठमुल्ला किस्म के अनुकरणवादी, मूर्खता, नौबढ़ राजनीतिक नौदौलतियों, यांत्रिक आधिभौतिकवादी पद्धति, मिथ्याभासी चेतना वाले, विसर्जनवादी, कूपमण्डूकी अनुभववादी, पूरी जनता के लिए "सर्व वर्ग समभाव", कायर शेखचिल्ली, भौंडी अटकलबाजी, अनुष्ठान धर्मी, अनावश्यक विद्वता और दार्शनिकता दिखाना, अनर्गल प्रलाप, पंडिताऊपन, सार संग्रहवाद, पांडित्यवाद, आत्मधर्माभिमानिता, कार्यकर्ताओं को docile tool (आज्ञाधीन उपकरण) समझते हैं, नौकरशाह नेतृत्व, दो मुंहापन, तिलमिलाने, सच्चाइयों के प्रति ईमानदार रवैया न अपनाना...।

अब अगर आप यह चाहते हैं कि इन 'अलंकारों' से भड़क कर हम इनमें से हर एक का जवाब देने लग जायें और इस तरह से बहस भटक जाये, तो हम ऐसा नहीं करेंगे। हम इन्हें एक वाक्य में पूर्णतया रद्द करते हैं और आपको बताना चाहते हैं कि ऐसी कार्यशैली के बारे में लेनिन की क्या राय थी! "गाली-गलौज का राजनीतिक महत्व" नामक अपने लेख में लेनिन ने कहा है, "राजनीति में गाली-गलौज भरी भाषा अक्सर सिद्धान्तों के नितान्त अभाव पर, और ऐसी भाषा इस्तेमाल करने वाले के बांझपन, नपुंसकता, क्षोभकारी नपुंसकता पर पर्दा डालने का काम करती है।" (संग्रहीत रचनायें, खण्ड 20, पृष्ठ 380, अं. संस्करण, 1964, अनुवाद हमारा)

मित्र, बहस आपने आमंत्रित की है। बहस का विषय आपने तय किया है। बहस "बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप" पर हो रही है, मुझ पर नहीं। मैं सज्जन हूं या दुर्जन, सभ्य-सुसंस्कृत हूं या गंवार, विद्वान हूं या अनपढ़, नवागन्तुक हूं या पुराना खग्गाड़, नौबढ़ नौदौलतिया हूं या पुराना धनी—इससे बहस पर कोई फर्क नहीं पड़ता। बहस में कोई अगर हिस्सेदारी करता है तो आपका फर्ज बनता है कि आप उसकी राय का जिम्मेदारी पूर्वक खण्डन करें और उसके प्रश्नों के उत्तर दें। यह आपका इंकलाबी दायित्व बनता है कि आप बहस को क्रान्तिकारियों के बीच होने वाली बहसों की तरह संचालित करें और विज्ञान की कसौटी पर सही-गलत का निर्णय होने दें। आइए, जिम्मेदार राजनीतिक लोगों की तरह बहस को मूल विषय पर केन्द्रित करें।

'मास पोलिटिकल पेपर' (Mass Polotical Paper)

यहां सवाल यह है कि क्या मास-पोलिटिकल पेपर शब्द का इस्तेमाल सामाजिक जनवादियों (संशोधनवादियों) की छिछोरी शैली की अभिव्यक्ति है? क्या कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के शब्दकोष में ऐसा शब्द नहीं होना चाहिए, और इसे सामाजिक जनवाद (संशोधनवाद) की अभिव्यक्ति माना जाये?

बिगुल के सम्पादक इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर 'हां' में देते हैं।

हम इसका उत्तर 'नहीं' में देते हैं।

हमारे देश के क्रान्तिकारी आंदोलन में आम राजनीतिक अखबार, जन-राजनीतिक अखबार, 'मास पोलिटिकल पेपर' प्रचलित शब्द रहे हैं। 'मास पोलिटिकल पेपर' शब्द और इससे जुड़ी अवधारणा न केवल प्रचलित रही है, बल्कि व्यापक जनता को क्रान्तिकारी राजनीति से लैस करने के उद्देश्य से निकाले जाने वाले अखबारों के लिए एक सही शब्द भी है। इस शब्द के प्रयोग से बहुत सटीक ढंग से पत्र की अवधारणा अभिव्यक्त होती है।

अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में भी 'मास पोलिटिकल लिटरेचर', 'मास पोलिटिकल पेपर' प्रचलित और लोकप्रिय शब्द रहे हैं। वहां भी ये उस श्रेणी के साहित्य के लिए इस्तेमाल किये जाते रहे हैं जिसमें कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी व्यापक जनता को अपनी राजनीति से लैस करने का प्रयास करते रहे हैं। उदाहरण के लिए, **प्राव्दा**" एक जन राजनीतिक अखबार (Mass Political Newspaper) था।

क्या **बिगुल** को उसके स्वघोषित उद्देश्यों और जिम्मेदारियों के हिसाब से एक 'मास-पोलिटिकल पेपर' कहना गलत है? **बिगुल** के जून-जुलाई, '99 अंक के पृष्ठ 2 पर रिवर्स में एक ब्लॉक छपा है जिसका शीर्षक है, "बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियां।" इस ब्लॉक की पहली पंक्ति है—"**बिगुल व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा।**" (जोर हमारा) जिस दिन **बिगुल** 'व्यापक मेहनतकश आबादी' के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षा और प्रचार को अपने उद्देश्य व जिम्मेदारी के बतौर गिनाना बंद कर देगा, उस दिन हम **बिगुल** से वे अपेक्षायें रखना बंद कर देंगे जो एक 'मास पोलिटिकल पेपर' से रखी जाती हैं। व्यापक मेहनतकश आबादी में **बिगुल** 'प्रोपेगैण्डा' कर रहा है या 'एजिटेशन' या दोनों ही नहीं कर रहा है, यह मूल्यांकन हम आगे करेंगे। परन्तु प्रोपेगैण्डा-एजिटेशन का शगूफा छोड़कर आप **बिगुल** के स्वघोषित चरित्र (व्यापक मेहनतकश आबादी

(पृष्ठ 3 पर जारी)

बहस को मूल मुद्दे पर एक बार फिर वापस लाते हुए

प्रति,
साथी पी.पी. आर्य 10 अक्टूबर '99

प्रिय साथी,

आपका 21 अगस्त '99 का पत्र 10 सितम्बर '99 को प्राप्त हो चुका था। देर से उत्तर देने के लिए हमें खेद है, पर सितम्बर के महीने की राजनीतिक व्यस्तताओं के चलते और **'बिगुल'** में कुछ अन्य विशेष सामयिक सामग्री देने की मजबूरी के चलते, हम आपका पत्र देर से छाप रहे हैं और उसका उत्तर देर से दे पा रहे हैं।

न चाहते हुए भी आपके जवाब पर एक सामान्य टिप्पणी :

★ पालिमिक्स चलाने के बारे में "मूल्यवान" नसीहतें देने की आड़ लेकर आपने अपने कुछ स्पष्ट आरोपों से मुकरने की कोशिश की है तथा लम्बा-चौड़ा पंवारा बांधकर अपनी राजनीतिक लाइन के असली चरित्र पर पर्दा डालने तथा मतभेद के बुनियादी मुद्दों को लोकरंजक (populist) जुमलेबाजियों, वकीलाना जिरहबाजी और हवाबाजी के सहारे किनारे धकेलने में कोई कसर नहीं उठा रखी है।

★ आपने न केवल हमारी बातों को और ऐतिहासिक तथ्यों को भी भारी तोड़-मरोड़ के साथ प्रस्तुत किया है, बल्कि निहायत गलत और अप्रासंगिक ढंग से लम्बे उद्धरण पेश करके पाण्डित्य-प्रदर्शन करते हुए बहस को मूल प्रश्नों से भटकाने की कोशिश की है।

★ आपकी बुनियादी पद्धति यह है कि जो-जो कुकृत्य खुद करने हों, वही तोहमत अग्रिम तौर पर विरोधी पर मढ़ दो। मसलन, खुद तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना हो तो पहले सामने वाले पर ही यह आरोप लगा दो, खुद गालियों की बौछार करनी हो तो पहले सामने वाले पर ही यह आरोप लगा दो, या तो सर्वमान्य आम बातों की पुष्टि के लिए या फिर अप्रासंगिक ढंग से उद्धरणबाजी करके पाण्डित्य-प्रदर्शन करना हो तो पहले सामने वाले पर ही यह आरोप लगा दो, स्वयं बहस को ("आगे बढ़ाने" के नाम पर) मूल मुद्दे से दूर ले जाना हो तो पहले सामने वाले पर ही यह आरोप लगा दो।

'पालिमिक्स' की कार्य शैली के बारे में मजबूरन कुछ बातें

'पालिमिक्स' कैसे चलाया जाये? हम समझते हैं कि कम्युनिस्टों की आपसी बहस 'अरुण जेटली-कपिल सिब्बल मार्का दूरदर्शनी बहस' की तरह नहीं होनी चाहिए। यानी एक-एक तकनीकी नुक्ते — नुक्ते तक के नुक्ते को उठाकर विरोधी को कोने में धकेलने की कोशिश में गलतबयानी तक करने की हदों तक पहुंच जाना और मतभेद के मूल मुद्दों को स्पष्ट करने से बचना या उन पर लीपापोती करना तथा जिन तर्कों का उत्तर न हो उन्हें किनारे धकेलकर नई-नई बातें करने लग जाना—यह तिकड़मबाजी है। तुर्की-ब-तुर्की, वाक्य-दर-वाक्य, खण्डन-मण्डनात्मक शैली अपनाने के बजाय पहले जेरे-बहस सामने आये मतभेद के बुनियादी मुद्दों को रेखांकित कर लिया जाना चाहिए—यानी बहस 'पोजीशनल वारफेयर' के रूप में होनी चाहिए, 'गुरिल्ला वारफेयर' के रूप में नहीं। राजनीतिक सूत्रीकरणों-विशेषणों को गाली या तोहमत नहीं समझना चाहिए और गालियों-तोहमतों को राजनीतिक सूत्रीकरणों के रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। मूल मुद्दों पर अपने पूरे तर्कों को रखने के बाद ही शैली आदि के प्रश्न या विरोधी द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों-साक्ष्यों की अप्रासंगिकता जैसे सवाल उठाये जाने चाहिए तथा आलोचना रखी जानी चाहिए। जिन मुद्दों पर विरोधी द्वारा प्रस्तुत तर्कों के उत्तर न हों उन्हें ईमानदारी के साथ स्वीकार करना और सोचना चाहिए। इसके बजाय ऐसा नहीं करना चाहिए कि अगली पारी में उन मुद्दों को ही दरकिनार कर दें, या उत्तर दिये जा चुके आरोपों को ही फिर से दुहरा दें या दूसरे सवाल उठाकर अपनी अवस्थिति की मूल विसंगतियों पर ही पर्दा डाल दें। विरोधी हमलों से बचने के लिए न तो दांये-बांये कूदना चाहिए और न ही हर अगले जवाब में अपनी पोजीशन से थोड़ा-सा खिसक लेने का अवसरवादी तरीका इस्तेमाल करना चाहिए।

हम ये सारी बातें आम तौर पर नहीं, खास तौर पर आपके सन्दर्भ में कर रहे हैं। "*पालिमिक्स कैसे चलायें*" या "*अपने आपको सुधारलें*" जैसी नसीहतें देने या शेखीबाजी करने के हम कायल नहीं है और न ही अपने को इसका हकदार समझते हैं, पर हमें यह गहरी चिन्ता जरूर हो गई है कि आप कहां जा रहे हैं और अपने सफर में कहां तक पहुंच चुके हैं!

थोड़ा रुककर, यथासंभव वस्तुगत होकर सोचने के बाद हम इस नतीजे पर पहुंचते जा रहे हैं कि आप अहम्मन्यतापूर्वक अपनी बातों पर डटे रहने की शेखी बघारते हुए अपनी बुनियादी पोजीशन से दांये-बांये दोलन करते रहने की अवसरवादी पद्धति का सहारा ले रहे हैं। आप संयम व विवेक के साथ विरोधी बातों पर गौर करने का माद्दा पूरी तरह खो बैठे हैं। बहस धीरे-धीरे "*अंधेरे में आगे रोना, अपना दीदा खोना*" की स्थिति में पहुंचती जा रही है। फिर भी हम एक बार फिर आपको बहस के बुनियादी मुद्दों और हमारे मतभेदों की याद दिलाने की कोशिश करेंगे। लेकिन इसके पहले मजबूरी यह है कि आपने बहस को मूल मुद्दे से ज्यादा से ज्यादा दूर ले जाते हुए हमारे ऊपर तोहमतों का जो कचड़ा उड़ेलने की कोशिश की है, उनमें से कम से कम सबसे प्रमुख, सबसे भ्रमोत्पादक, सबसे धूर्ततापूर्ण और सबसे घटिया कुछ आरोपों के बारे में कुछ कहा जाये।

न चाहते हुए भी हम आपको कुछ तकनीकी-कानूनी आपत्तियों-आरोपों की भी थोड़ी चर्चा करेंगे। हालांकि यह चर्चा फिर संवाद को मूल मुद्दे से दूर ले जायेगी, पर यदि यह चर्चा न की जाये तो आपका और आपके बहुतेरे पूर्वाग्रही और 'मुंदी आंखों वाले' साथियों का ध्यान मूल मुद्दों पर जायेगा ही नहीं और आपका आत्मधर्माभिमान (Self-righteousness) आपकी विवेक-बुद्धि को सक्रिय ही नहीं होने देगा।

मिथ्यारोपों के बारे में

1. सबसे पहले स्पष्टीकरण आपकी पहली आपत्ति के बारे में। आपके पत्र की तिथि 6.5.99 की जगह 5.6.99 छप जाना विशुद्ध रूप से प्रूफ की गलती है जिसके लिए प्रेस का काम देखने वाले हमारे साथी जिम्मेदार हैं। हमें इस गलती के लिए हार्दिक खेद है। इस तकनीकी गलती का उल्लेख आपने यह सिद्ध करने के लिए किया है कि आपके पत्र का जवाब देने के लिए हमारे पास काफी समय था और हमारा जवाब हमारी सोची-समझी अवस्थिति है। वैसे, आप यह तर्क न भी देते तो हम स्वयं स्वीकार करते हैं कि हमारा जवाब हमारी सोची-समझी अवस्थिति ही है। आपका जवाब देने के लिए हमारे पास पर्याप्त समय था यह भी सही है, हालांकि यह "पर्याप्त समय" हमने पहले से ही इसी काम के लिए आरक्षित नहीं रखा था।

वैसे इस तकनीकी गलती को निर्दिष्ट करने के पीछे आपका उद्देश्य शायद कुछ और ही है। इसे साफ करने के लिए हम कुछ और तथ्यों की ओर इंगित कर रहे हैं। आपके वर्तमान पत्र की तारीख 21 अगस्त '99 है। हमें यह पत्र 10 सितम्बर को रजिस्टर्ड डाक से प्राप्त हुआ। **पर हमें भेजने से पहले, अगस्त के अंत तक आप यह पत्र पूरे तराई क्षेत्र में, दिल्ली व अन्यत्र बांट चुके थे, जिसकी सूचना हमें वहां के साथियों से मिली। हमें आपकी यह सोची-समझी कार्य-प्रणाली लगती है, पर आप इससे क्या सिद्ध करना चाहते हैं?** इस मसले पर हम बस इतना ही कहना चाहते हैं कि कचहरी के मुकदमेबाजों की तरह "*केस खड़ा करने के लिए*" तमाम तकनीकी तथ्यों, भूलों-गलतियों की आड़ में मतभेद के मूलभूत मुद्दों को दरकिनार कर देना 'पालिमिक्स' को संचालित करने की सही कार्यशैली कदापि नहीं हो सकती।

2. आपकी एक आपत्ति आपके पत्र को दिये गये शीर्षक को लेकर है। आपके अनुसार, "*किसी के पत्र को शीर्षक देना कतई गलत नहीं है। परन्तु ईमानदारी का तकाजा यह है कि सम्पादक पत्र की मूल भावना के अनुरूप शीर्षक दे।*" आपके ख्याल से हमने ऐसा न करके एक अनैतिक काम किया है और **'बिगुल'** के पाठकों की निगाह में गिर गये हैं।

आइये देखें, सच्चाई क्या है! हमने आपके पत्र को शीर्षक दिया है, "**आप लोग कमजोर, छिछले कैरियरवादी बुद्धिजीवी हैं और 'बिगुल' हिरावलपंथी अखबार है!**" क्या यह शीर्षक आपके पत्र की मूल भावना के प्रतिकूल है? आपने अपने पहले पत्र के शुरुआती हिस्से में ही (*बिगुल, जून-जुलाई '99, पृ.5, पहला कालम, तीसरा पैरा*) हमलोगों को "*ऐसे कमजोर छिछले लोग*" बताया है जो... "*आत्ममहानता के कुण्ठाओं में जीना पसन्द करते हैं।*" यह तो शब्दश: उद्धृत करने की बात हुई, वास्तव में इस आशय के कई आरोप आपने पूरे पत्र में लगाये हैं। आम बुद्धिजीवी की स्थिति-मानसिकता के बारे में **लेनिन** का जो लम्बा उद्धरण आपने दिया है, वह यदि सर्वहारा क्रान्तिकारी संगठन से जुड़कर सक्रिय किसी भी बुद्धिजीवी पर लागू किया जाये, तो निस्संदेह वह कैरियरवादी ही सिद्ध होगा। नाम से लेख लिखने वाले प्रसंग में भी छपास व शोहरत के भूखे जिन निकृष्ट व्यक्तिवादियों को आपने चर्चा की है, वह भी कोई हवा में चलाया गया तीर या यूं ही कही गई बात नहीं है। आपके ख्याल से **'बिगुल'** में अपने मूल नाम से लिखने वाले लोग (और उन्हें छापने वाले सम्पादक भी) ऐसे ही कैरियरवादी

(पृष्ठ 6 पर जारी)

'बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप' पर जारी बहस : एक प्रतिक्रिया

'बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप' पर जारी बहस के तहत साथी पी.पी. आर्य की तरफ से एक मोटा पुलिन्दा ('बिगुल' को भेजे जाने वाले जवाब की फोटो प्रतिलिपि) हमें भी प्राप्त हुआ। पुलिन्दे (उक्त जवाब को पुलिन्दा ही कहा जाना उचित होगा) का राजनीतिक जवाब तो बिगुल के सम्पादक की ओर से दिया ही जायेगा। मैं पहले कुछ तकनीकी मुद्दों पर ध्यान दिलाना चाहूंगा।

सर्वप्रथम तो यह कि जब साथी पी.पी. आर्य के पास 'बिगुल' के सारे अंक ही उपलब्ध नहीं है (उन्होंने स्वयं अपने पत्र में यह बात कबूली है) तो वे बहस किस पर चला रहे हैं। इससे सीधे-सीधे ''बहस'' के पीछे का उनका मन्तव्य साफ हो जाता है और महज इस बात पर उनका भारी-भरकम पोथा कूड़ेदानी के हवाले किया जा सकता है।

दूसरी बात, जनाब पी.पी. आर्य प्राइमरी के उस अध्यापक के जैसे लगते हैं जिसे लम्बे-लम्बे इमला बोलते समय या तो इस बात का कदापि इल्म नहीं रहता है कि बच्चे की तख्ती पर कितने शब्द आयेंगे, या फिर जो अपनी 'विद्वता' से आतंक पैदा करना चाहता है। साथी, आठ पेज के अखबार में उद्देश्य व स्वरूप पर बहस के लिए कितना बड़ा पत्र लिखा जाना चाहिए, क्या आप जानते नहीं हैं, या जान कर अनजान बन रहे हैं? 'बिगुल' ने तो फिर भी आपके पहले पत्र की ही विशालता को छापने, बहस चलाने के उद्देश्य से अखबार के चार पृष्ठ बढ़ा दिया। अब आपने उससे भी भारी पोथा भेजकर फिर एक चालबाजी की है, कि या तो विवशतावश 'बिगुल' इसे न छापे (ताकि आप अपने कुत्सा प्रचार के पुराने हथियार का इस्तेमाल कर सकें। इसीलिए तो जवाब पहले 'बिगुल' कार्यालय भेजने की जगह उससे जुड़े साथियों तक पहुंचाने की जल्दीबाजी दिखलाई) और यदि इसे छापा जाये तो पूरा 'बिगुल' ही उसमें समा जाये!

पत्र में तारीख का मुद्दा उठाकर आपने अपने को ही बेनकाब कर लिया। अमूमन, यदि 'बिगुल' सम्पादक को आपके पत्र और अपने उत्तर के बीच कम दिन का अन्तर दिखलाने का कोई प्रयोजन होता तो वे आपके पत्र की तारीख बदलने की जगह अपने ही जवाब की तारीख पीछे की डालते। पत्र में तिथि आपने बेशक 6.5.99 की डाली है लेकिन मेरी जानकारी के अनुसार 'बिगुल' कार्यालय में यह पत्र जून के प्रथम सप्ताह में ही मिला था। अब इस दूसरे पत्र को ही ले लें। मुझे यह पत्र 30 अगस्त को ही मिल गया था। (पत्र में 21 अगस्त की तारीख पड़ी है) जबकि बिगुल कार्यालय में अभी आज तक (7 सितम्बर) वह नहीं प्राप्त हुआ है (मुझे पत्र की प्रतिलिपि देने आये आर्य जी के ही एक साथी ने बताया कि अभी पत्र बिगुल कार्यालय भेजा जा रहा है। यहां आप एक ऐसे कानूनविद नजर आते हैं जो खुद अपने ही तर्कों में फंस जाता है।

यहीं एक बात हम और कहना चाहेंगे। साथी पी.पी. आर्य अपने पत्र में एक जगह लिखते हैं कि ''बिगुल के वितरक साथी बिगुल को केवल **अग्रणी वर्ग सचेत मजदूरों** को देने के बदले हर आम मजदूर को पकड़ा देते हैं।'' यहां वे उस कूपमण्डूक की भांति लगते हैं जो एक तालाब के किनारे खड़ा होकर उसकी गहराई के बारे में अंहकारी की तरह बयान देने लगता है। उसकी गहराई के बारे में उस शख्स से बहस करने लगता है जो उसमें तैर रहा है। इनकी तर्कपद्धति तो यह है कि वे बन्द कमरे में ही बैठकर मजदूर की चेतना निर्धारित कर देना चाहते हैं। तभी तो इनकी उस आभासी चेतना का निर्माण होता है जिसमें इनको मजदूर तब तक उन्नत चेतना का नहीं दिखलाई देगा जब तक कि वह एक मार्क्सवादी बुद्धिजीवी की तरह अपने को अभिव्यक्त नहीं करने लगता। जनाब हमारे पास वह ''अलौकिक शक्ति'' नहीं है कि बगैर उनके पास गये ही उनकी चेतना के स्तर को चिन्हित-निर्धारित कर सकें।

जनाब आर्य के एक साथी ने एक बार 'बिगुल' की आलोचना करते हुए यह कहा था कि 'हमें साहित्य वहीं तक वितरित करना चाहिए जहां तक हमारी पहुंच हो'। यहां भी यही प्रश्न खड़ा हो जाता है कि हमारी ''पहुंच'' निर्धारित कैसे होगी? और क्या जहां हमारी ''पहुंच'' नहीं है वहां क्रान्तिकारी साहित्य देना वर्जित होना चाहिए? जनाब पी.पी. आर्य और उक्त साथी की बात में एक समानता है। हम लोग तो मजदूर आन्दोलन में कुछ सीखते, अध्ययन-मनन करते हुए मजदूर आन्दोलन को संगठित करने का प्रयास कर रहे हैं। यहां 'बिगुल' हमारे लिए काफी मददगार साबित हो रहा है। हां, साथी पी.पी. आर्य जैसे लोग अपनी 'दिव्य दृष्टि' से पहले से ही 'मजदूरों की चेतना' निर्धारित कर सकते हैं और साहित्य वितरण की सीमा बांध सकते हैं।

—ललित सती
रुद्रपुर (ऊधमसिंहनगर)

साथी पी.पी. आर्य के 6 मई '99 के पत्र पर

देर से प्रकाशित एक और प्रतिक्रिया

यह पत्र ग्रामीण मेहनतकशों के बीच 'बिगुल' लेकर जाने वाले कुछ कार्यकर्ताओं ने सबसे पहले लिखा था। पर सम्पादकीय प्रत्युत्तर छप जाने की सूचना मिलने पर एक सम्बन्धित साथी ने इसे सम्पादकीय कार्यालय नहीं भेजा। बाद में यह उत्तर जब सम्पादकीय कार्यालय को प्राप्त हुआ तो इसे छापना हमें 'बिगुल' के पाठकों के लिए उपयोगी और जरूरी लगा। इस पत्र से यह स्पष्ट होता है कि 'बिगुल' के मार्गदर्शन में मार्क्सवाद से शिक्षित कार्यकर्तागण, साथी पी.पी. आर्य जैसों की लाइन की विजातीयता को किस प्रकार देखते-परखते हैं। —सम्पादक

प्रति, श्री पी.पी. आर्य,

प्रिय साथी,

अप्रैल 1999 के अंक का संपादकीय **'बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार''** तथा सम्पादकीय की बातों को पुष्ट करने के लिए—**''मजदूर अखबार किस मजदूर के लिए?''** (**लेनिन** के 1899 के लिखे लेख **'रूसी सामाजिक जनवादी में एक प्रतिगामी प्रवृत्ति'** के एक अंश का अनुवाद) को पढ़ने के बाद आपने **'बिगुल'** लेखकों और पाठकों के लिए 6.5.99 की लिखित प्रतिक्रिया भेजी है और उम्मीद रखे हैं कि वह **बिगुल** में छपेगा तथा अखबार के लक्ष्य एवं स्वरूप पर बहस आगे बढ़ेगी।

महोदय, आप अपने पत्र में पैरा-2 में **बिगुल** के लक्ष्य एवं स्वरूप से सहमति जताते हुए आपने पैरा-3 में कुछ शिकायत दर्ज की है। वह यह कि-

1. **बिगुल** अपने घोषित उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहा है।

2. (बल्कि) **बिगुल** अपने घोषित उद्देश्य के विपरीत काम कर रहा है।

आप **बिगुल** की घोषित उद्देश्य की निष्क्रियता एवं उसके उद्देश्य की विपरीतता पर बात शुरू करते-करते **बिगुल** के सम्पादक पर, उसकी काम की विपरीतता पर आ गये हैं। खैर, आपने अपनी प्राथमिकता के आधार पर बहस चुनी है। आपकी **बिगुल** के सम्पादक से यह शिकायत है कि *''आप बिना खुलेतौर पर नाम लिए कुछ लोगों पर मेन्शेविक एवं अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी होने का चिप्पा लगा देते हैं। आपने छूटते ही गाली दी। यह न तो बहादुरी का काम है और न अकलमंदी का। आपकी गालियों से न तो सामने वाले डरेंगे और न ही आपके शागिर्द ही जायेंगे। इस तरह चिप्पे लगा देने से कहीं से भी सर्वभारतीय संगठन के निर्माण में मदद नहीं मिलती है। इसके उलट सामने वाले की समझ में आने लगता है कि आप लोग कुछ के मजोर और छिछले लोग हैं जो कि दूसरों को गालियां देकर आत्म महानता की कुण्ठाओं में जीना पसन्द करते हैं। ऐसी हरकतों से सामने वालों को यही समझ में आता है कि एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन का हिस्सा बनने के लिए जो समान कम्युनिस्ट विनम्रता होनी चाहिए, आपमें उसकी कमी है।''* और अन्त में आप की हिदायत है कि *''बिगुल के सम्पादक अपनी आदत सुधारें और इस छिछलेपन से बाज आयें।''*

महोदय, आपकी इस सुझाव पर बेशक विचार किया जाना चाहिए और किया जायेगा। लेकिन ये तो बताइये आप अपनी दाढ़ी क्यों झाड़ रहे हैं जबकि उसमें तिनका नहीं है? चोर को चोर कहना क्या वाकई गाली है? मेन्शेविक, अराजकतावादी, संघाधिपत्यवादी प्रकृति को आपकी समझ से कैसे संबोधित किया जाये ताकि इनके सारतत्व को समझा भी जा सके और गाली का आरोप भी न लगने पाये? प्रवृत्तियां भी क्या कभी नख-शिख से पहचानी जा सकती हैं? इनकी पहचान तो सिर्फ इनकी क्रियाकलापों से ही की जा सकती है। ऐसी प्रवृत्तियों को उनकी विशेषणों से, जिनको मार्क्सवाद के शिक्षकों ने बहुत समझबूझ कर विश्लेषित करके नाम दिया है, यदि सम्बोधित किया गया तो फिर यह गाली कैसे है? यदि इसे आप गाली मानते हैं तो शुरू से लेकर अब तक मार्क्सवादी आलोचनात्मक साहित्यों में गालियां ही गालियां भरी पड़ी हैं, ये सम्पादक की अपनी ईजाद नहीं। ऐसी प्रवृत्तियों पर मार्क्स से लेकर माओ तक ने यही विश्लेषण चस्पां किये हैं। रही बात सामने वाले के डरने की तो सम्पादक इस मुगालते में नहीं है। विश्लेषण तो इसलिए उछाला गया है कि कोई प्रगतिशील तत्व ऐसी प्रवृत्तियों को पहचानने में कहीं भूल न कर बैठे।

महोदय, किसी को शागिर्द बनाने अथवा किसी का शागिर्द बनने से कम्युनिस्ट नैतिकता परे होती है। शागिर्दी तो ऐसी प्रवृत्तियों के वकीलों को ही सुलभ और मुनासिब है। अगर सच कहा जाये तो यह आत्ममहानता की कुण्ठा ही है कि प्रकृति-विश्लेषकों को कुछ कमजोर और कुछ छिछला कहा गया है। जहां तक कम्युनिस्ट विनम्रता का सवाल है तो कम्युनिस्ट विनम्रता, मेहनतकशों, प्रगतिशील बुद्धिजीवियों तथा कम्युनिस्टों के लिए हुआ करती है, मेन्शेविकों, अराजकतावादियों, संघाधिपत्यवादियों एवं अन्य कम्युनिस्ट विरोधियों के लिये नहीं। अभी आप कम्युनिस्ट विनम्रता से ही परिचित हैं, कम्युनिस्ट कठोरता से शायद नहीं। मार्क्सवाद नरम-नरम हलवा नहीं है। जहां तक सर्व भारतीय संगठन निर्माण की बात है तो किस तरह का सर्वभारतीय संगठन? भाकपा-माकपा मार्का या भाकपा(माले) मार्का? ''सर्व धर्म समभाव'' या खुरुचेवी ''सम्पूर्ण जनता'' मार्का? अनुरोध अनुनय-विनय, अनुकम्पा भी मेन्शेविज्म, अराजकतावादी, संघाधिपत्यवाद का ही सबल हथियार है, कम्युनिस्ट तो सिर्फ पद्धति, प्रणाली, तर्क और व्यवहार पर ही विश्वास करते हैं। सम्पादक ने किसी व्यक्ति विशेष की आलोचना या तोहमत नहीं लगाया है वह तो प्रवृत्तियों का मात्र विश्लेषण भर किया है।

महोदय, आपने अपने पत्र के पैरा 4 में तोहमत और तीखी आलोचना में गुणात्मक अन्तर दिखाते हुए लेनिन को कोट किया है और एक क्रान्तिकारी पार्टी-बिल्डिंग की सफलता के लिए लेनिन की कार्यशैली के अनुसार काम करने का नेकनीयती के साथ सुझाव दिया है। माना कि तोहमत और तीखी आलोचना में गुणात्मक अन्तर है, पर यह भी तो प्रभावित (आलोच्य) प्रवृत्तियों की गुणात्मक अन्तरताओं का ही प्रतिफलन है? इन्हीं गुणात्मक अन्तरताओं के चलते एक बात किसी को सीख, किसी को आलोचना, किसी को तीखी आलोचना तो किसी-किसी को तोहमत लगने लगती है। मुर्गी की समान गर्मी से एक अण्डे से चूजा निकल आता है पर उसी आकार का एक पत्थर नीम-गरम भी नहीं हो पाता है। इसलिए कि अण्डे और पत्थर में गुणात्मक अन्तर है। यही वैज्ञानिक सच है। लेनिन की कार्य शैली किसान की उस कार्य शैली के मानिन्द है जो गेहूं और गेहूं के मामा के ऊपर अलग-अलग प्रभाव डालती है। गेहूं की अच्छी फसल के लिए गेहूं के मामा को उखाड़ कर फेंकना ही पड़ता है। लेनिन की कार्यशैली को समझने के लिए **'राज्य और क्रान्ति'** एवं **'क्या करें?** को ठीक से पढ़ने की जरूरत है। आप पायेंगे कि उनमें कितनी सफाई से गेहूं और गेहूं के मामा को फरियाया गया है।

महोदय, अब हम आते हैं आपके 5 एवं 6 पैरे पर। पांचवें पैरा में **बिगुल** सम्पादक का अन्याय दर्ज किये हैं यथा सम्पादक ने अपने सम्पादकीय में कुछ लोगों को मेन्शेविक होने का आरोप लगाया है और 'व्यक्तिवाद-विरोध' पर कूप मण्डूकता एवं अधकचरा-मौलिक सिद्धान्तकार कह कर फटकारने का हवाला दिया गया है। जिसके जवाब में पैरा-6 में रूस-चीन का उदाहरण देकर यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि ''गुमनाम लेखन आज की परिस्थिति में भारत के लिए बहुत जरूरी है'' और यह भी लिखे हैं कि ''कुछ क्रान्तिकारी नेता और उनके परिवार-जन 'छपास' का कोई मौका नहीं छोड़ते। अपनी व्यक्तिगत शोहरत के लिए संगठन के प्रकाशन गृहों का खुलकर इस्तेमाल करते हुए लजाते नहीं।'' और इसमें आपको व्यक्तिवाद नजर आ रहा है। इसके लिए आप थोड़ा विलाप किये हैं कि थोड़ा आदर्श होना चाहिए और थोड़ा वाम। यदि कभी-कभार नाम भी देना हो तो सिर्फ आन्तरिक बहसों तक। आगे कहा गया है कि ''इतने पर भी नहीं मानते हैं तो आप शौक से इस दलदल में पड़े रहिये, दूसरों को इस दलदल में खींचने की कोशिश मत कीजिये।'' फिर आप को तसल्ली नहीं होती है तो मुड़कर सामूहिकता की दर्शन से कम्युनिस्ट पार्टी बनाने की तहजीब सिखाते हुए ''एक कदम आगे दो कदम पीछे'' से लेनिन को कोट कर देते हैं।

महोदय, वाकई आपने बहुत मेहनत की है। इस मेहनत से आप पसीना-पसीना तो हो ही गये होंगे। बिजली भी तो इस समय कुछ अधिक ही गुल रहती है? पाकेट से रूमाल निकालकर चेहरा साफ करने के बाद बड़े ही आत्म महानता के संतोष के साथ एक लम्बी उछ्वास भी खींचे होंगे। क्यों नहीं, क्यों नहीं, आप एक विद्वान जो ठहरे। मार्क्सवाद को आप नहीं समझेंगे तो फिर दूसरा कौन समझेगा? लेकिन एक ही बात हमें खटक रही है—हंसुवा के ब्याह में खुरपी के गीत क्यों? चले थे हम लोग **'बिगुल** के लक्ष्य और स्वरूप पर' बहस करने और हो गई सास-पतोहू की रेंड़वारी-बंसवारी। खैर अब तो मजबूरी है कि किसानी शैली से गेहूं की सुरक्षा के लिए गेहूं के मामा को अलग किया जाये।

महोदय, पत्र में आपने स्वीकार किया है कि बिना नाम लिये मेन्शेविक होने का आरोप लगाया गया है। पहली बात—मेन्शेविक प्रवृत्ति को उजागर करने में आपको क्या परेशानी है? ऐसी प्रवृत्तियां जब-जब भी सर उठाई हैं, क्रान्तिकारी खेमे में उनका भण्डाफोड़ होता रहा है। मेन्शेविक से बोल्शेविक पार्टी बनी ही इन्हीं प्रवृत्तियों को चिन्हित करके। आरोप के आधार—''मजदूर वर्ग के बीच .... ऊंचा उठाना चाहिए।'' जो **बिगुल** में दर्ज है उसे शायद आपने ठीक से पढ़ने की जहमत नहीं उठाई। दूसरी बात—व्यक्तिवाद विरोध की सोच ही आपमें कैसे आई? क्या एक कम्युनिस्ट संगठन में एक व्यक्ति द्वारा की गई कार्यवाही व्यक्तिवादी कार्रवाई होती है यदि वह सचमुच ढांचा और संगठन से दुरुस्त हो? ऐसी बात तो दो ही के दिमाग में आ सकती है या तो उनके जो नौसिखुए हैं या उन घाघ मध्यवर्गियों के जिनको सिवाय खुड़पेंच के ढांचा और संगठन से कुछ लेना-देना नहीं होता। **बिगुल** का निकालना एक खुली कार्यवाही है फिर इसको गुमनाम क्यों लिखा जाये? महोदय, आप ये कैसे जानते हैं कि जो लेख **बिगुल** में जाता है, कोई व्यक्ति मर्जी से अपना नाम देता है? यह भी तो हो सकता है कि **बिगुल** के लेख में जाने वाला नाम संगठन तय करता हो और क्रान्तिकारी संगठनों में यही होता है। क्यों, क्या एतराज है इसपर आपको? कै प्रतिशत आदर्श और कै प्रतिशत वाम होना चाहिए? ये भी आपको लिखना चाहिए। आप द्वारा लिखा गया 'छपास' शब्द से तो हलवाई की मिठाई देखकर कुक्कुर की छाती फटने का भाव झलक रहा है और 'लजाने' शब्द से अंगूर के प्रति उस लोमड़ी के खटास भाव की सड़ांध भरी बदबू। लेनिन के जुमलों की सिर्फ जुगाली करते हुए उनकी राजनीतिक कार्यवाही के विपरीत आचरण करने वाली प्रवृत्ति ही मेन्शेविज्म है। 'दल-दल में घुस जाने' वाला जुमला लेनिन नये अवसरवादियों की 'आलोचना की स्वतंत्रता' के लिए इस्तेमाल किये थे। (पढ़िये 'क्या करें') बरसाती पटाव पर गोंजर-बिच्छुओं को खींच कर लाया नहीं जाता, वे तो स्वयं ही रेंग कर पटाव पर आ जाते हैं जो खतरा ही पैदा करते हैं।

महोदय, लेनिन के ''एक कदम आगे दो कदम पीछे'' पुस्तक से आप द्वारा दिया गया कोटेशन पार्टी निर्माण में वैसे ही है जैसे कोई सईस अपनी सईसाना के मद में अन्धा होकर घोड़े के मुंह के बजाय उसके पूंछ में लगाम लगा दे। लेनिन जिस संदर्भ में यह अंश लिखे हैं क्या वैसा ही संदर्भ है, जहां आपने ये अंश (कोटेशन) फिट किया है? कम्युनिज्म सामूहिकता का दर्शन है, बेशक, पर क्या सामूहिकता का दर्शन सर्वहारा में अपने आप आ जाता है या सर्वहारा में यह दर्शन दिया जाता है? आपके मतानुसार, तब तो मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन, माओ को अपनी-अपनी महान रचनायें नहीं लिखनी चाहिए क्योंकि ये सब विशिष्ट व्यक्तियों की महानता का प्रतीक-चिन्ह है और इनसे पार्टी निर्माण अवश्य बाधित होता रहा होगा। आप के तर्क की दिशा यही तो है?

महोदय, पैरा-7 में आपने बुद्धिजीवियों की प्रवृत्ति का जो विश्लेषण किया है, वह जलेबी पारने से अधिक कुछ नहीं है। मार्क्सवादी दर्शन के सारे के सारे धुरंधर विभूतियों की क्या मजबूरी थी, जिसके चलते जन समूह के लिए अनुशासन की आवश्यकता स्वीकारे थे? क्या मार्क्स से लेकर माओ तक सभी अनिच्छा से पार्टी-निर्माण, पार्टी गठन के कामों में लगे थे। दाद है आपकी इस तर्क बुद्धि को!

महोदय, आठवें पैरे में आप एकदम दार्शनिक हो उठे हैं। आपकी इस दर्शन की कै से घृणा हो रही है। सारे के सारे बुद्धिजीवियों पर अपनी दार्शनिक नजर से ऐसे घूरे हैं जैसे ऋषि ने उस ब्लाटा चिड़िया पर घूरा था। वर्ग-संघर्ष का दर्शन इन्हीं बुद्धिजीवियों ने ही दी है जिन पर अनायास ही आप लाल-पीले हो रहे हैं। महोदय, बुद्धिजीवियों का भी वैचारिक वर्ग होता है। उपर जो कुछ भी लिखा गया है वह **बिगुल** के लक्ष्य एवं स्वरूप पर कुछ भी सार्थक बहस का हिस्सा नहीं है।

महोदय, नवें पैरा में आपने **बिगुल** के स्वरूप पर थोड़ी निगाह डाली है। **बिगुल** के स्वरूप की अपनी आलोचना में आपने लेनिन के अनुवादित लेख का हवाला देते हुए यह साबित करने की कोशिश की है कि **बिगुल** का कोई स्तर नहीं है। इसलिए इसकी कोई भूमिका भी नहीं है। इस मायने में कागज और स्याही की बर्बादी है। आपकी आलोचना सचमुच जन-समूह के अनुरूप है। धनिया बेचने वाले बनियों के कुछ हिस्सों से यही आलोचना सुनने को मिलती है जो शुकसागर सोरठी, शोभनयकवा के आत्मज्ञान की महानता के ऐंठ में बैठे रहते हैं और भूल से कभी-कभार उनके हाथों में **बिगुल** पड़ जाता है तो वे भी यही कहते है—क्या है **बिगुल** में? कुछ भी तो नहीं है इसमें? चार पन्ने का कमनिष्टिहा अखबार है। इससे बढ़िया तो पांचजन्य, सहारा, आज और दैनिक है। और वे **बिगुल** को ऐसे लौटाते हैं जैसे जल्दी नहीं किये तो **बिगुल** उनको डंस लेगा। आप जैसे क्रान्तिकारियों के लिए **बिगुल** कोई स्तर भला क्यों रखेगा? मैं यह मान सकता हूं क्योंकि आप की सोच उन्हीं जन-समूह के सोच के धरातल पर है और साथ ही कम्युनिस्ट पार्टी बनाने के प्रति आप गंभीर भी हैं। माना कि सम्पादक पर आपने बड़ी कृपा की है। समझदारी देकर कागज और स्याही की बर्बादी से उबारा है पर आपने यह नहीं बताया कि **बिगुल** किस दृष्टि से स्तरहीन है, भाषा या अन्तरवस्तु से?

महोदय, आपने दसवें पैरा में **बिगुल** की इसलिए खिंचाई की है क्यों कि यह आम मजदूरों के एक बड़े घेरे के लिए बोधगम्य नहीं है। यहां भी आपने साफ नहीं किया कि भाषा की दृष्टि से या अन्तर्वस्तु के दृष्टि से? मैं आप से यह जानना चाहूंगा कि आप जैसे उच्च क्रान्तिकारियों और आम मजदूरों के विशाल घेरे के बीच कोई संस्तर है या नहीं? आपकी समझ से एक उच्च क्रान्तिकारियों का संस्तर है दूसरा संस्तर आम मजदूरों का विशाल घेरा। इसके अलावा कोई संस्तर है ही नहीं। जब इन दो के अलावा तीसरा कोई संस्तर है ही नहीं तो **बिगुल** के पाठक कहां से पैदा हो गये और **बिगुल** के पाठक को **बिगुल** की आलोचना का सवाल कहां से उभर आया? लेनिन का सही इस्तेमाल करने वाले महोदय, इसका क्या उत्तर देंगे? यह भी **बिगुल** के लक्ष्य और स्वरूप पर कोई कारगर बहस नहीं बल्कि दो प्रवृत्तियों के बीच स्पष्ट किया गया रेखांकन है।

महोदय, आपका ग्यारहवां पैरा भी **बिगुल** के लक्ष्य एवं स्वरूप के मुद्दे से भटका हुआ है। आपका **बिगुल** के सम्पादक पर आक्षेप है कि काल और स्थान के भेद का ख्याल नहीं रखा जाता है। इसकी पुष्टि में 1899 के रूसी मजदूर आन्दोलन और 1999 का भारत के मजदूर आन्दोलन की स्थिति की तुलना की गई है। इस पर आपसे मेरा यही कहना है कि आप, सिर्फ अंश को देख रहे है। समग्र को नहीं। आज की दुनिया पेरिस कम्यून की पूर्व स्थिति में नहीं खड़ी है। इस धरती पर अनेक देशों में जनवादी, समाजवादी क्रान्तियां सम्पन्न हो चुकी हैं। यह भी सच है कि आज सारी जनवादी, समाजवादी सत्तायें धराशायी भी हो चुकी हैं। सम्पूर्ण विश्व साम्राज्यवाद के डण्डों के नीचे है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि दुनिया के सर्वहारा ककहरा सीखने के स्टेज में आ गये हैं। पेरिस कम्यून, अक्टूबर क्रान्ति और चीन की जनवादी क्रान्तियों की भूमिका क्या जीरो हो गई है? अगर हां, तो आज दुनिया के देशों में पुनः हलचलें क्यों उठ रही हैं? भारत के मजदूर-आंदोलन की स्थिति यदि कमजोर है तो इसका कारण यह नहीं कि इनको (आम मजदूरों को) आज तक सांस्कृतिक और आर्थिक आन्दोलनों से नहीं गुजारा गया है बल्कि इसके उलट सच्चाई यह है कि भारतीय मजदूर आन्दोलन की स्थिति इसलिए कमजोर है कि क्योंकि इनको आज तक सिर्फ सांस्कृतिक, आर्थिक आन्दोलनों में ही फंसा कर क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना से दूर रखा गया है और इस कार्यवाही में सर्वाधिक हाथ इन्हीं मेन्शेविकों, अराजकतावादियों, संघाधिपत्यवादियों का रहा है। ऐसा नहीं है कि भारतीय आम मजदूर समझने की क्षमता कम रखता है। अगर ऐसा होता तो वे बुर्जुआ की बातें क्यों समझ जाता। 18 दिन की रेल हड़ताल, बिजली, डाकतार विभाग, बैंक, बीमा कर्मचारियों की हड़तालें क्यों सम्भव होतीं? क्रान्तिकारी नेतृत्व अपनी गलती, कमजोरी आम मजदूरों की माथे मढ़कर इस राजनीतिक अपराध से बरी नहीं हो सकता। साम्राज्यवादी युग में कबीरकाल की कार्यवाही का सुझाव देने वाले कितना बढ़िया काल और देश का ख्याल रखते हैं? यही है मेन्शेविक मानसिकता की विशेषता।

महोदय, लेनिन जब लिखते हैं कि ''आन्दोलन की प्राथमिक अवस्था में सामाजिक जनवादियों को बहुत सा ऐसा काम करना पड़ता था जो एक प्रकार का सांस्कृतिक कार्य होता था अथवा उन्हें लगभग आर्थिक आंदोलन में ही जुटा रहना पड़ता था...'' तो इसका मतलब ये नहीं कि क्रान्तिकारियों का मुख्य और सम्पूर्ण काम सिर्फ सांस्कृतिक कार्य और आर्थिक आन्दोलन में ही जुटा रहना है। लेनिन

(पृष्ठ 5 पर जारी)

(पृष्ठ 8 से आगे)

मूल प्रस्थापनाएं रखीं थीं, उनपर नये सिरे से विचार किया जाये।

हमारा एक अनुरोध और है। यह बहस अब इतनी व्यापक और विस्तारित हो चुकी है कि **'बिगुल'** के कलेवर और स्वरूप से बाहर जा चुकी है। इसबार तो हम विशेष बहस परिशिष्ट छापकर आपका पत्र और इसका उत्तर दे रहे हैं। पर चूंकि इसका सम्बन्ध अब इसके स्तर की दृष्टि से मुख्यतः कार्यकर्ताओं और बहुत थोड़े से उन्नत स्तर के पाठकों से ही बन रहा है, अतः एक दूसरा तरीका अपनाना बेहतर लग रहा है। आप अपना उत्तर वैसे भी बहुत जगह बांटते-भेजते हैं। **'बिगुल'** से जुड़े सभी कार्यकर्ताओं व अन्य दूसरे सभी उन्नत सम्पर्कों तक भी आप ही उसे पहुंचायें। हम पतों की पूरी सूची आपको दे देंगे। साथ ही, आप भी कार्यकर्ताओं और अपने साहित्य के उन्नत चेतना वाले पाठकों के नाम-पते हमें दे दें। हम अपना उत्तर अपने साथियों-सम्पर्कों व उन्नत पाठकों के साथ-साथ उन्हें भी भेजेंगे। इसके साथ ही आन्दोलन के जिन महत्वपूर्ण हिस्सों तक इस बहस को ले जाना हो, उसकी एक सूची आदान-प्रदान करके बना ली जाये और दोनों पक्ष अपने-अपने 'कमेण्ट्स' उन्हें भी भेजें। इससे आपका जवाब हम दुबारा छापते रहने से बच जायेंगे, **'बिगुल'** के संसाधनों पर गैरजरूरी बोझ भी नहीं पड़ेगा और यह बहस पूरे शिविर में सबके पास पहुंचती भी रहेगी।

पर इसकी भी कोई उपयोगिता तभी है जब बहस बहस के लिए नहीं, किसी नतीजे तक पहुंचने के लिए चलाई जाये। साथ ही, यदि अपने उत्तर दिये जा चुके तर्कों को ही हठधर्मी के साथ दुहराते रहना हो और मतभेद के मूल मुद्दों को दरकिनार करके नये-नये मुद्दे खड़े करते रहना हो, तो भी इस बहस की कोई सार्थकता नहीं है। यह भी यदि लग रहा हो कि अबतक के चक्रों में हमारे सभी तर्क आ चुके हैं और अब अनावश्यक दुहराव होगा तो मतभेद के मुद्दों को रेखांकित करके इस बहस को समापन तक पहुंचाया जा सकता है।

आपकी जो भी राय हो लिखियेगा। उसके हिसाब से बहस आगे जारी रखने का modus operandi तय कर लिया जायेगा।

- क्रान्तिकारी अभिवादन सहित,
आपका साथी,
सम्पादक, 'बिगुल'

(पृष्ठ 1, कालम 2 से आगे)

के लिए राजनीतिक पत्र) से इंकार नहीं कर सकते।

इसी से जुड़ा हुआ सवाल यह है कि क्या एक 'मास पोलिटिकल पेपर' को जनता में सीधे-सीधे क्रान्तिकारी विचारधारा और राजनीति का प्रचार करना चाहिए या नहीं? हमने अपने 6 मई, 1999 के पत्र के दूसरे और तीसरे पैराग्राफ में ही यह बात स्पष्ट कर दी है। (**बिगुल** के जून-जुलाई अंक में प्रकाशित) इसके बावजूद **बिगुल** के सम्पादक हम पर आरोप लगाते हैं कि हम सीधे-सीधे क्रान्तिकारी विचारधारा और राजनीति के प्रचार के खिलाफ हैं। (देखें - बिगुल जून-जुलाई, 99 पृष्ठ 7 कालम 2, प्रथम पैरा)

अगर आप हमारे 6 मई 99 के पत्र को मनोगत न होकर वस्तुनिष्ठ होकर पढ़ते तो आप हमारे ऊपर ऐसा गलत आरोप न लगाते और जबरदस्ती हमारे मुंह में वे बातें ठूंसने का प्रयास न करते जो हमने कही ही नहीं है। तब क्या माना जाये कि **बिगुल** के सम्पादक और हमारे बीच में जनता को राजनीति देने के सवाल पर कोई मतभेद नहीं है? मतभेद हैं। मतभेद यह नहीं है कि सीधे-सीधे राजनीति दी जाये या न दी जाये। मतभेद यह है कि 'मास पोलिटिकल पेपर' में राजनीति के नाम पर क्या दिया जाये और कैसे दिया जाये! यहीं पर सारी बहस केन्द्रित है। हमारी-आपकी बहस में यह बुनियादी सवाल है और इसे ही साफ करने के लिए हम यह पत्र लिख रहे हैं।

प्रोपेगेण्डा/ एजिटेशन

6 मई 1999 के अपने पत्र में हमने आप से सीधा सा सवाल यह पूछा था कि **क्या बिगुल भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का मुखपत्र है या यह एक 'मास पोलिटिकल पेपर' है?** अपने पत्र के जिस हिस्से में हमने यह सवाल खड़ा किया है वहां हमारा आशय बिलकुल साफ था (लिखित में) कि हम आप से पूछ रहे हैं कि **बिगुल** का पाठक-समूह कौन है? प्रश्न का सीधा जवाब देने और अपनी अवस्थिति स्पष्ट करके बहस को आगे बढ़ाने के बजाय, आपने 'प्रोपेगेण्डा/एजिटेशन,' तरह-तरह के 'आरगन' पर एक लम्बा व्याख्यान दे डाला। बहस बेमतलब के परिभ्रित मुद्दों में ही उलझ कर न रह जाये इसलिए इन बातों पर भी हम अपनी अवस्थिति साफ कर देते हैं।

आपकी तरह हमारा भी मानना है कि **रोबोची, सेन्ट पीटरबुर्गस्की राबोची लिस्तोक, जार्या, इस्क्रा, वपर्योद, प्रोलतारी, सोशल डेमोक्रेट, ज्वेज्दा, प्राव्दा', प्रोवेश्चचेन्या** ...संघर्ष लीग या बोल्शेविकों के आर्गन थे। हमारी-आप की बहस में ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह समझने की है कि इन विभिन्न पत्रिकाओं/अखबारों का पाठक-समूह कौन था, इन पत्रों का कलेवर क्या था, इन पत्रों ने अपने दौर में आंदोलन की किन जरूरतों को पूरा किया? और वह भी इसलिए ताकि हम यह सीख सकें कि हमें किस जरूरत को पूरा करने के लिए किस पाठक-समूह के लिए, कैसा अखबार या कैसी पत्रिका निकालनी चाहिए।

ऐसा ही प्रोपेगेण्डा एजिटेशन का मामला है। प्रोपेगेण्डा या एजिटेशन के मामले में भी बहस को बेमतलब के उलझाव से बचाने के लिए न तो हम आपकी मौलिक प्रस्थापनाओं (पृष्ठ 6, कालम 2) को आधार मान कर चलने को तैयार हैं और न ही अपनी कोई प्रस्थापनाएं देकर बहस को संचालित करना चाहते हैं। हमारा आपसे अनुरोध है कि लेनिन की ही परिभाषा को आधार मानकर बहस की जाये।

"...जब मिसाल के लिए, बेकारी के प्रश्न पर 'प्रचारक' (propagandist) बोलता है, तो उसे आर्थिक संकटों के पूंजीवादी स्वरूप को समझाना चाहिए, उसे बताना चाहिए कि वर्तमान समाज में इस प्रकार के संकटों का आना क्यों अवश्यंभावी है और इसलिए क्यों इस समाज को समाजवादी समाज में बदलना जरूरी है, आदि। सारांश यह कि प्रचारक (propagandist) को सुनने वालों के सामने 'बहुत से विचार' पेश करने चाहिए, इतने सारे विचार कि केवल (अपेक्षाकृत) थोड़े से लोग ही उन्हें एक अविभाज्य और सम्पूर्ण इकाई के रूप में समझ सकेंगे। परन्तु इसी प्रश्न पर जब कोई आंदोलनकर्ता (agitator) बोलेगा, तो वह किसी ऐसी बात का उदाहरण देगा, जो सबसे अधिक ज्वलंत हो और जिसे उसके सुनने वाले सबसे व्यापक रूप से जानते हों—मसलन, भूख से किसी बेरोजगार मजदूर के परिवार वालों की मौत, बढ़ती हुई गरीबी, आदि—और फिर इस मिसाल का इस्तेमाल करते हुए, जिससे सभी लोग अच्छी तरह परिचित हैं, वह 'आम जनता' के सामने बस **एक विचार** रखने की कोशिश करेगा, याने यह कि यह अंतरविरोध कितना बेतुका है कि एक तरफ तो दौलत और दूसरी तरफ गरीबी बढ़ती जा रही है। इस घोर अन्याय के विरुद्ध **आन्दोलनकर्ता जनता में असंतोष और गुस्सा पैदा करने की कोशिश करेगा तथा इस अंतरविरोध का और पूर्ण स्पष्टीकरण करने का काम वह प्रचारक के लिए छोड़ देगा।**

(क्या करें, पृष्ठ 91, प्रगति प्र., 1973, जोर हमारा)

इस्क्रा और प्राव्दा'

अपने 6 मई 99 के पत्र में हमने यह दलील दी थी कि आपके स्वघोषित उद्देश्य के हिसाब से **बिगुल** का स्वरूप **प्राव्दा** जैसा होना चाहिए न कि **इस्क्रा** जैसा। हमने यह भी कहा था कि लेनिन के जिस उद्धरण की मार्फत **बिगुल** के वर्तमान स्वरूप को सही ठहरा रहे हैं, वहां आप लेनिन की बातों का गलत इस्तेमाल कर रहे हैं क्योंकि लेनिन की ये बातें **'इस्क्रा'** जैसे अखबार पर लागू होती हैं और **'प्राव्दा''** जैसे अखबार पर नहीं। **'इस्क्रा** और **'प्राव्दा''** के उदाहरण लेकर हम आप को यह साफ करने की कोशिश कर रहे थे कि अलग-अलग पाठक समूहों के लिए अलग-अलग तरह के अखबार निकाले जाते हैं। **'इस्क्रा'** का पाठक समूह रूस के सामाजिक-जनवादी (आज के हिसाब से कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी) और वे उन्नत मजदूर थे जिन्हें लेनिन "मजदूर बौद्धिक" कहते हैं, जो अपनी नारकीय जीवन स्थितियों के बावजूद लगातार अध्ययन, अध्ययन और अध्ययन के काम में जुटे रहते हैं और खुद को सामाजिक-जनवादी (क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट) बना रहे हैं। जबकि **'प्राव्दा''** का पाठक समूह औसत मजदूरों की व्यापक आबादी थी।

अपने जवाब में आप कहते हैं कि हम गलत ऐतिहासिक तथ्य और गलत दलीलें दे रहे हैं। आपका कहना है कि--

• **'इस्क्रा'** और 'प्राव्दा'' दोनों बोल्शेविकों के एजिटेशनल आर्गन थे।

• **'इस्क्रा'** की भांति **'प्राव्दा''** का 'टारगेट रीडर ग्रुप' भी वर्ग सचेत अग्रणी मजदूर थे। **'प्राव्दा''** औसत चेतना के मजदूरों के लिए नहीं निकाला जाता था।

• चूंकि 1912 में ऐसे वर्ग सचेत अग्रणी मजदूरों की गिनती बहुत बढ़ गयी थी, इसलिए **'प्राव्दा''** के पाठकों का दायरा भी बहुत बढ़ गया था, अन्यथा दोनों अखबारों के कलेवर (शैली एवं अन्तर्वस्तु) में कोई बुनियादी अंतर नहीं था, क्योंकि दोनों का 'टारगेट रीडर ग्रुप' एक ही था। आपका कहना है कि दोनों के कलेवर में जो थोड़ा-बहुत अन्तर था वह इसलिए था क्योंकि **'प्राव्दा''** एक कानूनी दैनिक अखबार था, जबकि **'इस्क्रा'** एक गैर-कानूनी अखबार था।

आपका जवाब पढ़ने के बाद हमने अपने तथ्यों का पुनर्निरीक्षण किया और हमने पाया कि आपकी बातें गलत हैं। हम अपनी जगह ठीक हैं और आप या तो सीधे-सीधे झूठी बातें बता कर या फिर अर्धसत्य कह कर **बिगुल** के पाठकों को गुमराह कर रहे हैं। कौन गलत बयानी कर रहा है और **बिगुल** के पाठकों को झांसा दे रहा है, इसे साबित करने के लिए हमें सबूत के बतौर अनेक उद्धरण देने पड़ेंगे और इससे पैदा होने वाली असुविधा के लिए पाठक हमें माफ करेंगे।

आपका कहना है कि **'प्राव्दा''** की तरह **'इस्क्रा'** भी बोल्शेविकों का 'एजिटेशनल आर्गन' था। आपका कहना है कि जब **'इस्क्रा'** का प्रकाशन हो रहा था तब उन्नत स्तर की बहसों के लिए **'जार्या'** का प्रकाशन हो रहा था। आपकी बातें सत्य हैं, परन्तु अर्द्ध सत्य हैं।

'इस्क्रा' के काल में आप **'जार्या'** का जिक्र करके यह स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं कि रूस के सामाजिक-जनवादियों (कम्युनिस्टों) के बीच की उच्च स्तर की बातें **'जार्या'** में छपती थीं। यह सही है कि 1900 में **'इस्क्रा'** और **'जार्या'** की स्थापना का निर्णय एक ही साथ लिया गया था और यह भी सही है कि उस वक्त **'इस्क्रा'** का स्वरूप मूलतः एजिटेशनल माना गया था और **'जार्या'** का मूलतः प्रोपगेण्डा। परन्तु सत्य इतना ही नहीं है। **'इस्क्रा'** को किन्हें 'एजिटेट' करना है, इस बात पर रूस के सामाजिक-जनवादी बहुत स्पष्ट थे। **'इस्क्रा'** के 'टारगेट रीडर ग्रुप' सामाजिक-जनवादी (कम्युनिस्ट) और वे उन्नत मजदूर थे जो कि "मजदूर बौद्धिक" थे और सामाजिक-जनवादी बन रहे थे। लेनिन के अनुसार इस उन्नत मजदूरों की श्रेणी में वे मजदूर भी नहीं आते थे, जो कि समाजवाद की उत्कट इच्छा रखते हैं, मजदूर अध्ययन मण्डलों में भाग लेते हैं, सामाजिक-जनवादी साहित्य पढ़ते हैं और आन्दोलनात्मक प्रचार कार्य में भाग लेते हैं। ये **'इस्क्रा'** के पाठक तो बनते थे लेकिन वे उसे पूरी तरह नहीं समझ सकते थे। **'इस्क्रा'** का पाठक समूह कहीं से भी 'व्यापक मेहनतकश आबादी' नहीं थी। 'व्यापक मेहनतकश आबादी' को एजिटेट करना कहीं से भी **'इस्क्रा'** की मूल जिम्मेदारी नहीं थी।

शेष सत्य इतना ही नहीं है। सितम्बर 1900 के निर्णय के बावजूद कि प्रोपगेण्डा (और उच्च स्तरीय बहसों) के लिए **'जार्या'** निकाली जायेगी, 'जार्या' का प्रकाशन केवल अगस्त 1902 तक हो सका और अगस्त 1902 तक भी जार्या के केवल तीन अंक निकल पाये ('जार्या' के अंक 2 और अंक 3 संयुक्तांक के बतौर दिसम्बर 1901 में निकले तथा प्रवेशांक अप्रैल 1901 में निकला था)। जबकि दिसम्बर 1900 से लेकर नवम्बर 1903 तक **'इस्क्रा'** के 52 अंक निकले थे। यह वह दौर था जब पार्टी-गठन का काम पूरे जोर-शोर पर था (जुलाई-अगस्त 1903 में R.S.D.L.P की दूसरी कांग्रेस सम्पन्न हुई)। यानी कि **'जार्या'** की स्थापना के निर्णय के बावजूद रूस के सामाजिक-जनवादियों के बीच की अधिकांश उच्च स्तरीय बहसें **'इस्क्रा'** में हुईं। **'इस्क्रा'** में ही रूसी सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी के कार्यक्रम का मसौदा छापा गया और **'इस्क्रा'** में ही दूसरी कांग्रेस की तैयारी से सम्बन्धित लेख/दस्तावेज छापे गये।

यहां हम यह बात भी कह दें कि लेनिन आपकी तरह के "श्रेणी विभाजन प्रेमी" नहीं थे। वे चीजों को खानों में बांटकर उससे किन्हीं राजनीतिक निष्कर्षों तक नहीं पहुंचते थे जैसे कि आप पहुंचते हैं कि चूंकि **'इस्क्रा'** और **'प्राव्दा''** दोनों एजिटेशनल अखबार थे, अतः दोनों एक ही तरह के अखबार थे। इसके विपरीत लेनिन चीजों को उनके वास्तविक चरित्र से तय करते थे। इसीलिए बाद में जब उन्होंने एक अखिल रूसी अखबार की रूपरेखा "कहां से शुरू करें"? और "क्या करें?" में रखी तो उसे प्रचारक और आंदोलनकर्ता दोनों के रूप में प्रस्तुत किया। यहीं नहीं लेनिन द्वारा लिखित, तीसरे इण्टरनेशनल द्वारा पारित और आपके द्वारा प्रकाशित "कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा" के धारा 38 में साफ लिखा गया है कि अखबार प्रचारक और आंदोलनकर्ता दोनों का काम करेगा :

"कम्युनिस्ट अखबार को... हमारा सर्वोत्तम आंदोलनकर्ता (एजिटेटर) और सर्वहारा क्रान्ति का नेतृत्वकारी प्रचारक बनना चाहिए।" लेकिन यह आपकी 'द्वंद्ववादी' पद्धति का नतीजा है कि आप चीजों को खानों में बांट देते हैं और फिर उससे निष्कर्ष निकालने लगते हैं। लेकिन अपना यह 'द्वंद्ववाद' कम से कम लेनिन के मत्थे तो मत मढ़िये।

'इस्क्रा' का कलेवर और भूमिका क्या थी इसके संबंध में हम रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की स्वीकृत राय यहां उद्धृत कर रहे हैं :

"विभिन्न मार्क्सवादी संगठनों को एक ही पार्टी में मिलाने और जोड़ने के लिए, लेनिन ने **इस्क्रा** की स्थापना की योजना पेश की और उसे पूरा किया। क्रान्तिकारी मार्क्सवादियों का अखिल रूसी पैमाने का यह पहला अखबार था।" (सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बो.) का इतिहास, कामगार प्रकाशन, पृष्ठ-29)

"**इस्क्रा**' ने बिखरे हुए सोशल डेमोक्रेट मण्डलों और गुटों को एक सूत्र में जोड़ा और दूसरी पार्टी कांग्रेस बुलाने के लिए रास्ता साफ किया।" (वही पृष्ठ-60)

इससे स्पष्ट है कि **इस्क्रा** ने पार्टी गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और यह काम उसने पार्टी कार्यकर्ताओं को इकट्ठा करके तथा उन्हें प्रशिक्षित कर अंजाम दिया। इसीलिए इसका 'टारगेट रीडर ग्रुप' पार्टी कार्यकर्ता और अग्रणी वर्ग सचेत मजदूर थे।

'इस्क्रा' को महज एजिटेशनल आर्गन कहकर **'प्राव्दा''** की श्रेणी में रखने की कोशिश करना निहायत गलत है, क्योंकि **'इस्क्रा'** ने उन सारे उच्च स्तरीय सैद्धान्तिक सवालों और बहसों को अपने पृष्ठों में जगह दी जिन्हें कि 'व्यापक मेहनतकश आबादी' को सम्बोधित अखबार कतई नहीं दे सकता है। यह बात तब और साफ हो जाती है जब हम **'प्राव्दा''** के कलेवर और 1912 के काल में बोल्शेविकों द्वारा निकाले जाने वाले अन्य पत्रों के पाठक-समूह पर गौर करें।

1912 में, **'प्राव्दा''** के प्रकाशन के वक्त बोल्शेविक 'सोशल डेमोक्रैट' और **'ज्वेज्दा'** नाम के पत्र निकालते थे। 'सोशल-डेमोक्रेट' उच्च स्तरीय सैद्धान्तिक बहसों के लिए पत्र था, जबकि 'ज्वेज्दा' अग्रणी मजदूरों के लिए था। **'प्राव्दा'** को व्यापक मजदूर आबादी की राजनीतिक जरूरतों को पूरा करने के लिए निकाला जाता था। **'प्राव्दा'** के कलेवर को स्पष्ट करने के लिए हम स्तालिन को उद्धृत कर रहे हैं।

'प्राव्दा'' की स्थापना ....:

"मध्य अप्रैल, 1912 की एक शाम को कामरेड पोलेतायेव के घर दूमा के दो सदस्य (पोंक्रोवस्की और पोलेतायेव), दो लेखक (ओलमिन्स्की और बातुरिन) और केन्द्रीय कमेटी का एक सदस्य, मैं (मैं फरार होने के कारण उस समय पोलेतायेव के घर को अपना अड्डा बनाये हुए था क्योंकि उसे "संसदीय अभयदान" मिला हुआ था), **प्राव्दा** के मंच के बारे में सहमति पर पहुंचे और समाचार पत्र के प्रथम अंक को संकलित किया। मुझे याद नहीं है कि इस सम्मेलन में **प्राव्दा** के दो बहुत घनिष्ठ सहयोगी देम्यान ब्येदनी और दानिलोव मौजूद थे या नहीं।

"**ज्वेज्दा** द्वारा चलाये गये आंदोलन (Agitation), मजदूरों के व्यापक हिस्से की सहानुभूति, और मिलों तथा फैक्टरियों में **'प्राव्दा'** के लिए फण्ड के व्यापक स्वैच्छिक संग्रह से समाचार पत्र का तकनीकी और वित्तीय पूर्वाधार पहले ही तैयार हो चुका था। सही बात तो यह है कि रूस के मजदूर वर्ग के और सर्वोपरि पेत्रोग्राद के मजदूर वर्ग के प्रयासों के परिणामस्वरूप ही **प्राव्दा** अस्तित्व में आया था। यदि ये प्रयास नहीं होते तो समाचारपत्र का अस्तित्व नहीं होता।

"**प्राव्दा** का स्वरूप स्पष्ट था। इसका लक्ष्य जन समुदाय के बीच **'ज्वेज्दा'** के कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाना था। **प्राव्दा** ने अपने प्रथम अंक में ही लिखा था : 'कोई भी जो **'ज्वेज्दा'** को पढ़ता है और इसके लेखकों को जानता है, जो **प्राव्दा** के भी लेखक हैं, उसे **प्राव्दा** द्वारा अपनायी जाने वाली लाइन को समझने में दिक्कत नहीं होगी। **ज्वेज्दा** और **प्राव्दा** के बीच अंतर सिर्फ यह था कि दूसरा (यानी **प्राव्दा**), पहले (**ज्वेज्दा**) के विपरीत, **अपने को आगे बढ़े हुए मजदूरों को नहीं, बल्कि मजदूर वर्ग के व्यापक जन समुदाय को संबोधित करता था।** प्राव्दा का कार्य था कि **रूसी मजदूर वर्ग के व्यापक हिस्से को**, जो नये संघर्ष के लिए तो जागृत हो गया था **लेकिन राजनीतिक तौर पर** अभी भी पिछड़ा हुआ था, पार्टी के **परचम के इर्द-गिर्द गोलबंद करने में आगे बढ़े हुए मजदूरों की मदद करे।** सिर्फ इसी वजह से **प्राव्दा** ने उस समय अपने लिए एक उद्देश्य यह तय किया था कि मजदूरों के बीच से लेखक तैयार करे और उन्हें समाचार पत्र के संचालन में आकर्षित करे।

"अपने पहले ही अंक में **प्राव्दा** ने लिखा : 'हम चाहेंगे कि मजदूर सिर्फ सहानुभूति रखने तक ही अपने को सीमित न रखें, बल्कि हमारे अखबार को चलाने में सक्रिय भूमिका अदा करें। मजदूर यह नहीं कहें कि वे लिखने के आदी नहीं हैं।' मजदूर वर्ग के लेखक तैयारशुदा आसमान से नहीं टपकते। उनको साहित्यिक गतिविधियों के दौरान कदम-ब-कदम ही प्रशिक्षित किया जा सकता है। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि काम को साहस के साथ शुरू किया जाये। आप एक या दो बार लड़खड़ा सकते हैं, लेकिन अंत में आप लिखना सीख लेंगे।'... (जे.वी. स्तालिन, **प्राव्दा** की दसवीं सालगिरह (संस्मरण) से, जे. स्तालिन, वर्क्स, खण्ड 5, पृष्ठ सं. 132-34 अनुवाद और जोर हमारा)

दोस्तो, स्तालिन की बात पर गौर कीजिए। **प्राव्दा** व्यापक जनसमूह को अपना 'टारगेट रीडर ग्रुप' मानता था और उसके राजनीतिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए लिखता था।

क्या तब भी **प्राव्दा** को 'मास पोलिटिकल पेपर' मानना उचित होगा? आइये इसे समझने के लिये देखा जाये कि 1938 में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी क्या कहती है। यह दस्तावेज इसलिए भी जरूरी है कि ताकि हमारे बीच यह बात साफ रहे कि हमें अपने आन्दोलन के 'मास पोलिटिकल पेपरों' को कैसा बनाने की कोशिश करनी चाहिए।

"बोल्शेविक अखबार **"प्राव्दा"**...

"अपने संगठनों को मजबूत करने और आम जनता के बीच अपना असर फैलाने के लिए, बोल्शेविक पार्टी ने जो एक शक्तिशाली हथियार इस्तेमाल किया, वह दैनिक बोल्शेविक अखबार **प्राव्दा** (सत्य) था। यह पेत्रोग्राद से प्रकाशित होता था। लेनिन के निर्देश के अनुसार, स्तालिन, ओलमिन्स्की और पोलेतायेव की पहलकदमी पर इसकी स्थापना की गयी। **प्राव्दा आम मजदूर जनता का अखबार था** जिसकी स्थापना क्रान्तिकारी आंदोलन के नये उभार के साथ-साथ हुई थी। इसका पहला अंक 22 अप्रैल (नयी शैली, 5 मई), 1912 को निकला था। मजदूरों के लिए यह दरअसल उत्सव का दिन था। **प्राव्दा** के प्रकाशन के सम्मान में यह फैसला लिया गया कि आगे से 5 मई को मजदूर प्रेस-दिवस मनाया जायेगा।

"**प्राव्दा** के निकलने के पहले ही, बोल्शेविकों के पास **ज्वेज्दा** नाम का साप्ताहिक अखबार था। यह **आगे बढ़े हुए मजदूरों के** लिए था। लेना काण्ड के समय, **ज्वेज्दा** ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसने लेनिन और स्तालिन के लिखे हुए कई तीखे राजनीतिक लेख छपे, जिन्होंने संघर्ष के लिए मजदूर वर्ग को गोलबंद किया। लेकिन उठते हुए क्रान्तिकारी ज्वार को देखते हुए बोल्शेविक पार्टी की जरूरतें साप्ताहिक पत्र से न पूरी होती थीं। मजदूरों के व्यापकतम हिस्सों के लिए एक दैनिक जन राजनीतिक समाचार पत्र (Mass Political Newspaper) जरूरी था। **प्राव्दा'** ऐसा ही अखबार था। ....

"इस दौर में **प्राव्दा** की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण थी। आम मजदूर जनता में उसने बोल्शेविज्म के लिए समर्थन हासिल किया।... **प्राव्दा** का औसत वितरण प्रतिदिन चालीस हजार प्रतियों का था, जबकि मेन्शेविक दैनिक लूच (किरण) की पन्द्रह हजार या सोलह हजार से ज्यादा प्रतियां नहीं वितरित होती थीं।

"मजदूर **प्राव्दा** को अपना ही अखबार समझते थे। उन्हें इस पर बहुत भरोसा था और इसके आह्वान का वे तुरंत जवाब देते थे। प्रत्येक प्रति हाथों-हाथ घूमते हुए बहुत से पाठकों द्वारा पढ़ी जाती थी। इसने (**प्राव्दा** ने) उनकी वर्ग-चेतना का निर्माण किया, उन्हें शिक्षित किया, उन्हें संगठित किया और संघर्ष के लिए उनका आह्वान किया।

"**प्राव्दा** किन चीजों के बारे में लिखता था?

"हर अंक में मजदूरों के दर्जनों खत छपते थे जिनमें वे अपनी जिंदगी बयान करते थे, पूंजीपति मैनेजर और फोरमैन जिस बुरी तरह उनका शोषण करते थे और तरह-तरह से उन्हें सताते और बेइज्जत करते थे, उसे वे बयान करते थे। इन पत्रों में पूंजीवादी स्थितियों की तीखी और जोरदार आलोचना होती थी। **प्राव्दा** अक्सर बेकार और भूखे मरते हुए मजदूरों की आत्महत्या की रिपोर्टें छापता था। ये वे मजदूर थे जो फिर काम पाने की आशा छोड़ बैठे थे।

"**प्राव्दा** विभिन्न कारखानों और उद्योग-धंधों के मजदूरों की मांगों और जरूरतों के बारे में लिखता था। वह बतलाता था कि मजदूर अपनी मांगों के लिए किस तरह लड़ रहे हैं। लगभग हर अंक में विभिन्न कारखानों में होने वाली हड़तालों की रिपोर्टें छपती थीं। बड़ी और लम्बी चलने वाली हड़तालों में हड़तालियों की मदद करने के लिए, अखबार दूसरे कारखानों और दूसरे उद्योग-धंधों के मजदूरों में चंदे इकट्ठे करने में मदद देता था। कभी-कभी हड़ताल फण्ड में लाखों रूबल इकट्ठे हो जाते थे। उन दिनों के लिए, जबकि ज्यादातर मजदूरों को हर रोज 70 या 80 कोपेक से ज्यादा न मिलता था, तब ये रकमें बहुत भारी थीं। इससे मजदूरों के बीच सर्वहारा एकजुटता की भावना और तमाम मजदूरों के हितों की एकता की चेतना मजबूत हुई।

"मजदूर हर राजनीतिक घटना पर हर जीत या हार पर **प्राव्दा** को चिट्ठियां, अभिनंदन या विरोध इत्यादि भेजकर प्रतिक्रिया देते थे। **प्राव्दा** अपने लेखों में सुसंगत बोल्शेविक दृष्टिकोण से मजदूर आंदोलन के कार्यभारों की चर्चा करता था। कानूनी तौर से प्रकाशित अखबार जारशाही को उखाड़ फेंकने का खुले तौर पर आह्वान नहीं कर सकता था। उसे इशारे करने पड़ते थे, जिन्हें वर्ग-सचेत मजदूर बहुत अच्छी तरह समझ लेते थे, और जिन्हें वे जन-समुदाय को अच्छी तरह समझाते थे। उदाहरण के लिए, जब **प्राव्दा** ने "वर्ष 5 की पूरी और बिना कटी-छंटी मांगों" के बारे में लिखा तो मजदूर समझ गये कि इसका मतलब बोल्शेविकों के क्रान्तिकारी नारे हैं—यानी जारशाही का खात्मा, जनवादी गणतंत्र, भू-जागीरों की जब्ती और काम के आठ घण्टे।...

"**प्राव्दा** मजदूरों की जिंदगी के बारे में, उनकी हड़तालों और प्रदर्शनों के बारे में ही नहीं लिखता था बल्कि नियमित तौर पर किसानों की जिंदगी, उनको त्रस्त करने वाले अकालों और सामंती जमींदारों द्वारा उनके शोषण का भी वर्णन करता था। यह बतलाता था कि किस तरह स्तोलीपिन 'सुधार' के परिणामस्वरूप कुलकों ने किसानों से उनकी सबसे अच्छी जमीन छीन ली है। **प्राव्दा** ने वर्ग-चेतन मजदूरों का ध्यान ग्रामीण इलाकों में फैले व्यापक और घोर असंतोष की तरफ खींचा। इसने सर्वहारा वर्ग को यह सिखलाया कि 1905 की क्रान्ति के उद्देश्य अभी हासिल नहीं हुए और एक नयी क्रान्ति होने वाली है। इसने सिखलाया कि इस दूसरी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग को जनता के सच्चे नेता और पथ प्रदर्शक का काम करना होगा, और कि इस क्रान्ति में उसे क्रान्तिकारी किसान समुदाय जैसा ताकतवर सहयोगी मिलेगा।...

"**प्राव्दा** के मजदूर संवाददाताओं की तादाद बहुत बड़ी थी। एक साल में ही इसने मजदूरों के **ग्यारह हजार** से अधिक खत छापे। लेकिन, **प्राव्दा** मजदूर वर्ग के जनसमुदाय से सिर्फ खतों के जरिए सम्पर्क कायम नहीं रखता था। प्रत्येक दिन कारखानों से बहुत सारे मजदूर सम्पादकीय दफ्तर में आते थे। **प्राव्दा** के सम्पादकीय कार्यालय में पार्टी के संगठनात्मक कार्य का एक बड़ा हिस्सा केन्द्रित था। यहां पर पार्टी केन्द्रों के प्रतिनिधियों की मीटिंगों का इंतजाम किया जाता था। यहां पर मिलों और कारखानों में पार्टी के काम की रिपोर्टें ली जाती थीं। यहीं से पार्टी की पेत्रोग्राद कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के निर्देश बाहर भेजे जाते थे।" (सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास (बोल्शेविक) संक्षिप्त कोर्स, (पृ. 149-153) फारेन लेंगवेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, 1952 का सीधा पुनर्मुद्रित अंग्रेजी संस्करण, अनुवाद और शब्दों पर जोर हमारा)

इस लम्बे उद्धरण को देना हमारी मजबूरी इसलिए है क्योंकि **बिगुल** के सम्पादक इस बात से सीधे इंकार करते हैं कि **'प्राव्दा'** औसत मजदूरों को सम्बोधित था। **बिगुल** के सम्पादक **बिगुल** के पाठकों को गलत तथ्य देते हैं कि **'इस्क्रा'** की तरह **'प्राव्दा'** का 'टारगेट रीडर ग्रुप' अग्रणी वर्ग सचेत मजदूर ही थे।

इन लम्बे उद्धरणों द्वारा हमने यह स्थापित करने की कोशिश की है कि **'इस्क्रा'** और **'प्राव्दा'** में भिन्नता मात्र दौर की नहीं है या इस बात की नहीं कि एक कानूनी दैनिक था तथा दूसरा गैर कानूनी। इससे कहीं ज्यादा बड़ी बात यह है कि दोनों अखबारों के टारगेट रीडर ग्रुप अलग-अलग थे, इसलिए दोनों अखबारों का कलेवर (अन्तर्वस्तु और शैली) एक-दूसरे से बहुत भिन्न था।

यहीं पर हम पाठकों के सामने यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि न केवल आप उद्धरणों के गलत अर्थ निकालते हैं बल्कि उन्हें तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करते हैं। आपने अपने लेख में लिखा है— "जिसे आप 'मास पोलिटिकल पेपर' कह रहे हैं और यह मानक पेश कर रहे हैं कि लेनिन की बातें **इस्क्रा** पर तो लागू होती हैं पर **प्राव्दा** पर नहीं, उस पत्र ने (स्तालिन कालीन सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) के इतिहास के अनुसार) चौथी दूमा के चुनाव के पूर्व **आगे बढ़े हुए मजदूरों** को संगठित किया, सर्वहारा वर्ग की आम कार्यवाही का संगठन किया और मजदूर वर्ग की आम क्रान्तिकारी पार्टी के रूप में बोल्शेविक पार्टी को ढालने के लिए **प्राव्दा** की कार्यनीति ने **राजनीतिक रूप से**

(पृष्ठ 4 पर जारी)

(पृष्ठ 3 से आगे)

सक्रिय मजदूरों के अस्सी फीसदी का समर्थन हासिल किया।

हम नहीं जानते कि उपरोक्त बातें आपने 'इतिहास' के किस हिस्से से ली हैं। परन्तु आपके द्वारा बाद में संदर्भित पृष्ठ-18। पर हमें यह पढ़ने को मिलता है :

''मजदूर वर्ग की आम क्रान्तिकारी पार्टी बनाने के लिए ढाई साल तक विसर्जनवादियों के खिलाफ डट कर मोर्चा लेने के फलस्वरूप 1914 की गर्मियों तक बोल्शेविक पार्टी के लिए और **प्राव्दा** की कार्यनीति के लिए बोल्शेविक रूस के राजनीतिक तौर से सक्रिय मजदूरों में से 80 फीसदी का समर्थन हासिल करने में सफल हुए।''

हम आपसे पूछना चाहेंगे—क्या यह सीधे-सीधे तोड़-मरोड़ नहीं है! **''प्राव्दा' की कार्यनीति के लिए''** कैसे **''प्राव्दा' की कार्यनीति ने''** में बदल जाता है? परिणाम कैसे कारण में बदल जाता है? 'इतिहास' के उपरोक्त अंश में कर्ता ''बोल्शेविक'' (और कर्म 'विसर्जनवादियों के खिलाफ डट कर मोर्चा लेना') है जबकि **बिगुल** के सम्पादक महोदय की कृपा से कर्ता **प्राव्दा** हो जाता है। यह किसी भी तरह से अपनी बात साबित करने का अतिरिक्त उत्साह है या 'पोलर एक्सिस दोष'?

इसी तोड़-मरोड़ का अगला उदाहरण तुरंत बाद की लाइनों में अभिव्यक्त होता है। आपने लिखा है :

''जिसे आप 'मास पोलिटिकल पेपर' कहकर **इस्क्रा** से अलग प्रकृति का बताने कोशिश कर रहे हैं वह पत्र 'पार्टी सिद्धान्त' के लिए, आम मजदूर वर्ग की **क्रान्तिकारी पार्टी बनाने के लिए संघर्ष में**...बीचोबीच में था। **प्राव्दा**' ने **बोल्शेविक पार्टी के गैर कानूनी केन्द्र के चारों तरफ** मौजूदा कानूनी संगठनों को इकट्ठा किया और निश्चित उद्देश्य की तरफ मजदूर आंदोलन का संचालन किया—क्रान्ति की तैयारी के लिए।'' (सो. सं. की क.पा. (बोल्शेविक) का इतिहास, पृ.-181)

यहां आपकी चालाकी देखने लायक है। यह दो स्तरों पर एक ही तरह से की गई है। पहली तो यह कि आपने अपनी ओर से कुछ शब्दों पर जोर दे दिया है और यह बताये बिना कि यह जोर आपका है जिससे पाठक को यह लगे कि जोर तो मूल पाठ में ही है। इससे आपकी बात और पुख्ता साबित होने लगती है। क्या इसे सामान्य ''चूक'' का मामला मान लिया जाये (वैसे हमें मानना तो नहीं चाहिए, तब जब आप अपने आपको इतना भारी विद्वान समझते हों कि दूसरों को पढ़ने की सीख देते फिरते हों)? लेकिन यह चूक नहीं है। यह सोची समझी चाल है। यहीं दूसरी बात है—उन शब्दों को जस का तस रहने दिया गया है जो वास्तव में वर्तमान बहस में कुछ रोशनी डाल सकते हैं। पहले वाक्य में 'आम मजदूर वर्ग' शब्द आया है जिसे आपने चुपचाप निकल जाने दिया। क्यों? इस पर जोर क्यों नहीं दिया? क्या इसलिए कि यह आपकी धारणा को खंडित करता है? इसी तरह दूसरे वाक्य में आपने जिन शब्दों पर जोर दिया है उनसे ज्यादा महत्वपूर्ण वे शब्द हैं जिन पर आपने जोर नहीं दिया और वे हैं, ''मौजूदा कानूनी संगठनों को इकट्ठा किया''। **प्राव्दा**' ने यही काम किया और यही उसका महती योगदान था। 'इतिहास' में उपरोक्त अध्याय के अंत में दिये गये सारांश में ठीक इसी बात को फिर दूसरे शब्दों में दोहराया गया है।

लेकिन आप यह नहीं करते। क्यों? इसलिए कि यह आपकी **इस्क्रा** व **प्राव्दा** की समानता की पूरी धारणा को खंडित कर देता है। इसलिए आप यह नहीं देखते या देखना नहीं चाहते कि **इस्क्रा** ने एक **गैर कानूनी पार्टी केन्द्र का गठन किया** और **प्राव्दा** ने इस गैर कानूनी पार्टी केन्द्र के चारों तरफ **कानूनी संगठनों को इकट्ठा किया।** यह बहुत बड़ा फर्क है। इसीलिए **इस्क्रा** ने **पार्टी कतारों और अग्रणी वर्ग सचेत मजदूरों** को संबोधित किया जबकि **प्राव्दा** ने **आम मजदूर जनता को।**

लेकिन किसी भी तरह से अपनी बात को सही साबित करने वाले आप जैसे ''बहादुर तीसमार खां'' (''कायर शेखचिल्ली'' का हमें यही विपरीत सूझा, वैसे हमें आशा है कि आप जैसे महापंडित इस मामले में भी हमारा मार्गदर्शन करेंगे) से और क्या उम्मीद की जा सकती है?

क्या 1899 से 1904 का काल रूसी मजदूर आन्दोलन में फूट, विसर्जन और ढुलमुलपन का काल था अथवा मजदूर आन्दोलन के आगे बढ़ने और विकसित होने का काल था?

बिगुल के सम्पादक हम पर आरोप लगाते हैं कि हम 1899 के रूसी मजदूर आंदोलन को जरूरत से ज्यादा उत्साही और अतिरंजित खाका खींचते हैं, कि हम ऐतिहासिक तथ्यों के साथ प्रायः बलात्कार करते हैं और नये तथ्यों का आविष्कार करते हैं, और इतिहास का विद्रूपीकरण करते हैं।

हमने अपने मई, 99 के पत्र में कहा था कि 1899 के रूसी मजदूर आंदोलन की जरूरतें और 1999 के हिन्दुस्तानी मजदूर आन्दोलन की जरूरतों में बहुत बड़ा अंतर है। क्योंकि 1899 में रूसी मजदूर आंदोलन आगे बढ़ रहा था, जबकि 1999 का हिन्दुस्तानी मजदूर आंदोलन पीछे हट रहा है। ऐसे में जड़सूत्रवादियों की तरह 1899-1904 के रूसी दौर की व्यावहारिक बातों को (उसूली बातों को नहीं) दोहराते रहना गलत है। हमने आगे यह लिखा था कि क्रान्तिकारियों को स्थान-काल का भेद ठीक से समझना चाहिए और जमाने की जरूरतों के हिसाब से काम करना चाहिए। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए हमने लेनिन को उद्धृत किया था ताकि यह साफ रहे कि क्रान्तिकारी प्रतिकूल स्थितियों में मजदूरों को ककहरा सिखाने, उनमें सांस्कृतिक कार्य... करने की हद तक भी जा सकते हैं।

इतिहास की हमारी समझ ठीक है। इतिहास के बारे में **बिगुल** के सम्पादक झूठे तथ्य पेश कर रहे हैं। सच्चाई को समझने और ठीक अवस्थिति पर पहुंचने के लिए आइये देखें, लेनिन क्या कहते हैं। चलिए लेनिन की पुस्तक 'क्या करें' के उसी अन्तिम अध्याय को देखा जाये, जिसका हवाला **बिगुल** के सम्पादक अपने अखबार के पृष्ठ 8 के पहले कालम के पहले पैरा में देते हैं। लेनिन लिखते हैं, ''**रूसी सामाजिक-जनवादी आंदोलन**'' को साफ-साफ तीन कालों में बांटा जा सकता है।

दो पैरा बाद लेनिन लिखते हैं—''तीसरे काल की तैयारी, जैसा हम देख चुके हैं, 1897 में हुई थी और 1898 में उसने निश्चित रूप से दूसरे काल का स्थान ले लिया था (1898-?)। यह फूट, विसर्जन और ढुलमुलपन का काल था। जब आदमी लड़कपन पार करके जवानी में प्रवेश करने को होता है, तो उसकी आवाज फट जाती है। इसी प्रकार इस काल में **रूसी सामाजिक-जनवादी आंदोलन** की आवाज भी फटने लगी और उसमें एक झूठा स्वर सुनाई देने लगा। एक ओर तो स्त्वूवे और प्रोकोपोविच, बुल्गाकोव और बेरदियायेव जैसे महानुभावों की रचनाओं में, और दूसरी ओर व.इ. और र.म., बो.ऋचेव्स्की और मार्तीनोव जैसे लोगों की रचनाओं में। **परन्तु केवल नेतागण ही थे, जो इधर-उधर अलग-थलग भटकते फिरते थे और वापस चले जाते थे, खुद आंदोलन तो प्रचण्ड गति से बढ़ता और विकास करता गया। सर्वहारा संघर्ष मजदूरों के नये हिस्सों तक पहुंचा, पूरे रूस में फैल गया और इसके साथ-साथ उसने अप्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों में और जनता के दूसरे हिस्सों में भी जनवादी भावना जगायी। परन्तु नेताओं की चेतना स्वयंस्फूर्त उभार के विस्तार और वेग के अनुरूप न बढ़ पायी...**'' (लेनिन, क्या करें, शब्दों पर जोर हमारा है)

मित्र, आपकी निकटदृष्टि ठीक है, आपकी दूरदृष्टि ठीक है, पोलर-एक्सिस भी ठीक है, आप्टिक-नर्व भी ठीक होनी चाहिए। हमारा ख्याल है कि तब रोग आपके मस्तिष्क में है। लेनिन साफ लिखते हैं कि 'खुद आंदोलन तो प्रचंड गति से बढ़ता और विकास करता गया...।' फिर आप **बिगुल** के पाठकों को लेनिन की बात तोड़-मरोड़ कर क्यों बता रहे हैं? क्यों आप **सामाजिक-जनवादी आंदोलन की जगह रूसी मजदूर आंदोलन** लिख देते हैं? जबकि आप अच्छी तरह जानते हैं कि दोनों धारायें एक-दूसरे से अलग थीं और उन दिनों ये दो अलग-अलग धारायें एक-दूसरे में मिल रही थीं। लेनिन की बात बहुत साफ है कि रूस का **सामाजिक-जनवादी आंदोलन** 1898-1904 के वर्षों में फूट, विसर्जन और ढुलमुलपन का शिकार था और **ये प्रवृत्तियां भी आंदोलन के नेताओं** तक सीमित थीं, जबकि **रूसी मजदूर आन्दोलन** में उभार था, वह वेग के साथ आगे बढ़ रहा था और विस्तृत हो रहा था।

आपने हमसे जानना चाहा है कि हमने रूसी क्रान्ति के इतिहास की कौन सी पुस्तक पढ़ी है जिसमें 1898 से 1904 तक के दौर को मजदूर आंदोलन के आगे बढ़ने का काल बताया गया है?

तो साथी, इस सवाल का जवाब यह है कि हमने लेनिन को पढ़ा है और बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी द्वारा प्रमाणित इतिहास पढ़ा है। हमारी आपसे गुजारिश है कि आप भी ऐसा ही करें। 'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास' के दूसरे अध्याय के पहले भाग (Section) का शीर्षक है ''1901-04 में रूस में क्रान्तिकारी आंदोलन में उठान''। इस भाग में कुल चार पृष्ठ हैं। ज़्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। आप इन्हें ध्यान से पढ़ें और समझने का प्रयास करें। आपकी तो निकट दृष्टि अव्वल है, दूर दृष्टि के माशा-अल्ला क्या कहने! ऐसे में आपको ज्यादा जोर नहीं लगाना पड़ेगा।

अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की यह अवस्थिति निर्विवाद है कि 1898 से 1904 का काल रूसी मजदूर आंदोलन के आगे बढ़ने का काल है। या तो दुनिया के कम्युनिस्ट झूठ बोल रहे हैं या फिर आप **बिगुल** के पाठकों को झांसा दे रहे हैं। हमारा कहना है कि दूसरी वाली बात सही है।

क्या राजनीति देते समय अखबार को पाठक-समूह की चेतना का ख्याल रखना चाहिए?

हमारा मत है कि निश्चित तौर पर रखना चाहिए।

हमारे-आपके बीच में यह बहस ही नहीं है कि राजनीति दी जाये या न दी जाये। और न ही यह बहस है कि क्रान्ति की राजनीति सीधे-सीधे दी जाये या न दी जाये।

हमारे-आपके बीच यह भी बहस नहीं है कि क्रान्ति को समर्पित अखबार अपने पाठकों का राजनीतिक शिक्षक होता है, कि अखबार का काम यह नहीं होता है कि वह अपने पाठकों को वही बातें बताये जिन्हें वे पहले से जानते हों, कि क्रान्ति को समर्पित किसी अखबार का काम होता है, अपने पाठकों की राजनीतिक चेतना को ऊपर उठाना।

परन्तु इतनी सहमति के बावजूद हम **बिगुल** के सम्पादक एवं लेखकों के आलोचक हैं। क्योंकि हमारा मत है कि **बिगुल** अपने ही स्वघोषित उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहा है।

बिगुल की समस्या यह है कि एक ओर तो **बिगुल** अपना 'टारगेट रीडर ग्रुप' व्यापक मेहनतकश आबादी को मानता है। दूसरी ओर अपने सम्पादकीय या अपने जवाब में बिगुल के सम्पादक, अखबार का 'टारगेट रीडर ग्रुप' **अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों** को परिभाषित करते हैं। यह एक विसंगतिपूर्ण अवस्थिति है।

जब कोई **व्यापक मेहनतकश आबादी** की बात करता है तो उसका एक ही अर्थ निकलता है—संगठित सर्वहारा, असंगठित सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा (शहरी तथा ग्रामीण), गरीब व मझोले किसान। 'व्यापक मेहनतकश आबादी' में इनके सभी संस्तर—उन्नत, मध्यम तथा पिछड़े—आते हैं। औसत तो निश्चित तौर पर आते हैं।

जब कोई 'वर्ग-सचेत मजदूरों' की बात कर रहा होता है तब वह एक ऐसे मजदूर की बात कर रहा होता है जिसे कम से कम अपने वर्ग का बोध होता है, समाज के अन्य वर्गों के साथ अपने वर्ग के वर्तमान रिश्तों की समझ होती है, जिसे यह बात साफ समझ में आती है कि उसके वर्ग की मुक्ति बिना क्रान्ति के नहीं हो सकती है, और जो इस मिशन की पूर्ति के लिए अपने अन्य मजदूर साथियों को तैयार करने के लिए कुछ तो सक्रिय होता ही है। इससे कम चेतना का मजदूर किसी भी हालत में वर्ग-सचेत मजदूर नहीं माना जा सकता है।

'व्यापक मेहनतकश आबादी' में सामान्य तौर पर अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों की गिनती बहुत कम होती है। मजदूर आन्दोलन की सुप्त अवस्थाओं में विशेष तौर पर, अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूर कम गिनती में पाये जाते हैं।

'व्यापक मेहनतकश आबादी' की चेतना और 'अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों' की चेतना में अच्छा-खासा अन्तर होता है। क्रान्ति को समर्पित किसी अखबार को निश्चित तौर पर अपना पाठक समूह तय करना होगा। अगर वह ऐसा नहीं करता तो वह अपने पाठकों का राजनीतिक शिक्षक नहीं बन पायेगा। ऊहापोह की स्थिति में होता यह है कि वह अपने उन्नत पाठकों को कुछ नया और सार्थक नहीं दे पाता है और निम्न स्तर के पाठकों के लिए उसकी बातें बोधगम्य नहीं होती हैं। कुल मिलाकर वह अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहा होता है, वह 'आफ टारगेट' हो कर रह जाता है। पाठकों के लिए सार-हीन होकर रह जाता है।

बिगुल के सम्पादक हिरावलपंथ को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। आपकी मौलिक प्रस्थापनाओं पर न जाकर हम जनता के बीच काम करने के बारे में लेनिन की बात सुनेंगे :

''यहां पर हम फिर देखते हैं कि 'वामपंथी' लोग तर्क करना नहीं जानते, वे **वर्ग** की पार्टी की तरह, **जनसाधारण** की पार्टी की तरह काम करना नहीं जानते। आपको जनसाधारण के स्तर पर, वर्ग के पिछड़े हुए भाग के स्तर पर नहीं पहुंच जाना चाहिए। यह बात निर्विवाद है। आपको जनता को कटु सत्य बताना चाहिए। आपको उसके बुर्जुआ जनवादी और संसदीय पूर्वाग्रहों को पूर्वाग्रह ही कहना चाहिए। परंतु साथ ही आपको यह बात भी **बड़ी गंभीरता के साथ** देखनी चाहिए कि पूरे वर्ग की (केवल उसके कम्युनिस्ट हिरावल की नहीं) और सारे मेहनतकश **जनसाधारण** की (केवल उसके आगे बढ़े हुए प्रतिनिधियों की नहीं) चेतना और तैयारी की **वास्तविक** हालत क्या है।'' (लेनिन, वामपंथी कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज, दस खंडीय हिन्दी संस्करण, खण्ड-9, पृ. 295-96, जोर मूल में)

जनता के बीच काम करने के लिए लेनिन द्वारा सुझायी गयी यह पद्धति ही सही पद्धति है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जनसाधारण के बीच काम करते हुए हमें उसकी चेतना और तैयारी की **वास्तविक हालत का गंभीरतापूर्वक ध्यान रखना चाहिए।** जो कोई भी यह नहीं करता और केवल हिरावल को देखकर अपनी नीति तथा दिशा तय करता है और तदनुरूप व्यवहार करता है, हमारी नजर में वह हिरावलपंथी है। उसे हिरावलपंथी कहा जायेगा भले ही वह रोजमर्रा के संघर्ष करता हो या न करता हो, जनसंगठन बनाने का प्रयास करता हो या न करता हो, वह केवल प्रचार कार्य करता हो या ''व्यावहारिक'' कार्य भी।

हिरावलपंथी अखबार एक ऐसा अखबार होता है जो या तो अपने पाठक-समूह को ठीक से चिन्हित न करता हो या अगर वह अपने पाठक-समूह को ठीक से चिन्हित कर भी ले तो, अपने पाठक-समूह की चेतना का वस्तुनिष्ठ आकलन कर भी ले तो उस चेतना को मद्देनजर रखते हुए राजनीति देने का काम न करे। जो अपने पन्नों में ऐसे शब्द इस्तेमाल करे जो पाठकों को समझ में न आते हों, ऐसी बातें लिखे जो उसके पाठकों की समझ से ऊपर हों, जिसमें ऐसे लेख न छपते हों जिनसे उसके पाठकों को अपने राजनीतिक कार्यों को आगे बढ़ाने में मदद मिलती हो। यानी कि एक ऐसा अखबार जिसकी शैली और अन्तर्वस्तु, उसके पाठकों के वास्तविक जीवन व चेतना से बेमेल हो, और जो उन्हें राजनीतिक तौर पर आगे बढ़ाने के बजाय उनसे किताबी बातें करता हो।

हमारा निश्चित मत है कि क्रान्ति को समर्पित किसी अखबार को अपने पाठक-समूह की चेतना का वस्तुनिष्ठ आकलन करना चाहिए, उस चेतना को परिभाषित करने का प्रयास करना चाहिए। उस चेतना को मद्देनजर रखते हुए ही राजनीति देने का काम करना चाहिए। अखबार की भाषा, प्रस्तुति, विषयों का चयन, लेखों की अन्तर्वस्तु हर चीज इस चेतना को दिमाग में रखकर तय की जानी चाहिए। प्रोपगेण्डा और एजिटेशन के सम्बन्ध में लेनिन का साफ मत है कि ''आंदोलनकर्ता'' (Agitator)... ऐसी बात का उदाहरण देगा, जो सबसे अधिक ज्वलंत हो और जिसे **उसके सुननेवाले सबसे व्यापक रूप से जानते हों...।**'' (जोर हमारा)

'सांस्कृतिक कार्य में संयुक्त मोर्चा' लेख में माओ भी यही मत रखते हैं कि ''जनसमुदाय के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हमें जनसमुदाय की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार काम करना चाहिए। **जनसमुदाय के लिए किये जाने वाले तमाम कार्यों का आरम्भ उसकी आवश्यकताओं के आधार पर होना चाहिए न कि किसी व्यक्ति की सदिच्छाओं के आधार पर।**'' (जोर हमारा)

अगर, क्रान्ति को समर्पित कोई अखबार हिरावलपंथी होने की गलती से बचना चाहता है तो उसके सम्पादक और लेखकों को लेनिन और माओ की इन बातों को गांठ बांध लेनी चाहिए। इसी लेख में माओ तो यहां तक कहते हैं कि, ''जनसमुदाय को अपना संकल्प खुद ही करना चाहिए, बजाय इसके कि हम उस पर अपना संकल्प लाद दें।''

अखबार चाहे 'व्यापक मेहनतकश आबादी' के लिए निकाला जाने वाला 'मास पोलिटिकल पेपर' हो, चाहे वह 'अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों' को आगे बढ़ाने और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बतौर प्रशिक्षित करने के लिए निकाला जा रहा हो, दोनों ही स्थितियों में उसके 'टारगेट रीडर ग्रुप' की चेतना का वस्तुनिष्ठ आकलन किया जाना चाहिए। इन दो भिन्न टारगेट रीडर ग्रुप की चेतना में बहुत अंतर है, इनकी राजनीतिक जरूरतें एक दूसरे से नितांत भिन्न हैं, अतः अखबार का कलेवर दोनों के लिए एक जैसा नहीं बनाया जा सकता। **बिगुल** के सम्पादक और लेखकों को हंसुए की शादी में खुरपी का गीत गाने की गलती से बचना चाहिए।

कनप्यूशियसवादी शैली

माफ करना दोस्तो, हमने आपको कनप्यूशियसवादी नहीं कहा था। हमने आप पर कन्फ्यूशियसवादी शैली अपनाने का आरोप लगाया था। परन्तु आपका कहना है कि तमाम ग्रंथ उलट-पुलट देने के बावजूद आपको हमारा आरोप ठीक से समझ में नहीं आया। ऐसे में हमारी मजबूरी हो जाती है कि हम अपना आशय स्पष्ट करें।

कन्फ्यूशियस प्राचीन चीन का एक विद्वान था। करीब 2,500 वर्ष पहले वह तब पैदा हुआ जब चीन में पुरानी दास प्रथा टूट रही थी और नयी सामंती व्यवस्था उसकी जगह ले रही थी। कन्फ्यूशियस गुलामों के विद्रोहों से आतंकित था और टूटती हुई दास प्रथा को बचाना चाहता था। समाज में फैली अफरा-तफरी, उठा-पटक और अराजकता को समाप्त करने के लिए उसने अपने विचार रखे। कन्फ्यूशियस ने घोर प्रतिक्रियावादी विचार प्रतिपादित किये। हालांकि कन्फ्यूशियस दास प्रथा को बचा नहीं पाया, परंतु बाद में चीन के सामन्तों ने उसकी बातें अपना लीं।

ऊपरी तौर पर देखा जाये तो कन्फ्यूशियस की बातें बड़ी अच्छी लगती हैं। वह समाज में प्रेम, मानवीयता, सद्गुण, सदाचार, विश्वसनीयता, छोटों के प्रति पवित्र भावनाएं, उदात्तता स्थापित करने की बातें करता है। ऐसी आकर्षक शैली अपनाने की वजह से सदियों तक समाज में उसकी बातों का प्रभाव बना रहा।

परन्तु ठोस व्यवहार में उसकी बातों के और ही मतलब निकलते थे। ठोस व्यवहार में उसकी शिक्षाएं थीं—

''जो लोग दिमाग से काम करते हैं वे शासन करते हैं, जबकि वे लोग जो अपनी ताकत से काम करते हैं, दूसरों द्वारा शासित होते हैं।''

''केवल सबसे ऊंचे लोग जो बुद्धिमान होते हैं और सबसे नीचे के लोग, जो मूर्ख होते हैं, को बदला नहीं जा सकता है।''

''कुछ लोग जन्म से ज्ञानी होते हैं।''

औरतों के लिए तीन आज्ञापालन और चार गुण—''जब कम उम्र की हो तो पिता और भाइयों का आज्ञापालन, जब शादीशुदा हो तो पति का आज्ञापालन, जब विधवा हो तो पुत्रों का आज्ञापालन'' और चार गुण थे ''अपनी हैसियत का बोध, मृदुभाषा, सजावट, घरेलू कामों में निपुणता।''

ठोस व्यवहार में कन्फ्यूशियस की बातें मेहनतकश लोगों के किसी काम की नहीं थीं और चीनी क्रान्ति ने इनका निषेध किया। इसलिए अगर कोई व्यक्ति ऐसी शैली अपनाता है जो ऊपरी तौर पर तो ठीक और अच्छी लगे परन्तु ठोस व्यवहार में किसी काम की न हो तो उसकी शैली को कन्फ्यूशियसवादी शैली कहा जा सकता है।

हमारा कहना है कि ऊपरी तौर पर तो यह बात बड़ी अच्छी लगती है कि आप 'अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों' को क्रान्ति के काम में दीक्षित करने के लिए अखबार निकाल रहे हैं या 'व्यापक मेहनतकश आबादी' के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षा और प्रचार के लिए अखबार निकाल रहे हैं। परंतु ठोस व्यवहार में जब हम **बिगुल** को देखते हैं और पाते हैं कि यह दोनों में से किसी भी पाठक-समूह की वास्तविक राजनीतिक जरूरतों को पूरा नहीं करता है तब यह स्पष्ट होने लगता है कि यह किसी काम का नहीं है।

फिर भी हमें खेद है कि हमने कन्फ्यूशियसवादी शैली शब्द इस्तेमाल किया। इसकी जगह हमें और सटीक तथा धारदार शब्द इस्तेमाल करना चाहिए था, मसलन शब्दाडंबरवादी या बमबम करने वाली (Flamboyant) या फिर ऐसे व्यक्ति की शैली जो लार को वक्लासव कहता हो जिसका जिक्र कुमारिल भट्ट ने उन भाववादी दार्शनिकों के लिए किया था जो योग के नाम पर नाना प्रकार की बकवास किया करते थे।

हिरावलपंथी बने रहने से बचने के लिए बिगुल के सम्पादक को कुछ सलाहें

माओ (येनान की कला-साहित्य गोष्ठी में भाषण) का कहना है : ''किसके लिए?'' का सवाल बुनियादी सवाल है, यह एक उसूल का सवाल है।'' इसी लेख में एक अन्य जगह (पृष्ठ 124-25, संकलित रचनाएं 1975) वे कहते हैं, ''हम मार्क्सवादी हैं, और मार्क्सवाद हमें यह सिखाता है कि किसी भी समस्या से निपटते समय हमें वस्तुगत तथ्यों से शुरुआत करनी चाहिए, अमूर्त परिभाषाओं से नहीं, तथा इन तथ्यों का विश्लेषण करके ही हमें अपने निर्देशक उसूलों, नीतियों और उपायों को निर्धारित करना चाहिए।''

बिगुल के सम्पादक से हमारा कहना है कि उन्हें भी सर्वप्रथम बहुत निर्मम होकर ''किसके लिए?'' के बुनियादी सवाल को हल करना चाहिए। 'व्यापक मेहनतकश आबादी' के लिए अखबार और 'अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों' के लिए अखबार का घालमेल **बिगुल** को 'किसी के लिए नहीं' में तब्दील कर देता है। इस बुनियादी सवाल को तय किये बगैर **बिगुल** के लिए सही निर्देशक नीतियां तय ही नहीं हो सकती हैं। इस बुनियादी सवाल के ही उत्तर पर **बिगुल** में छपने वाले लेखों का राजनीतिक स्तर, लेखों की शैली, लेखों में प्रयोग किये जाने वाले शब्द, अखबार की प्रस्तुति सब कुछ निर्भर करता है। लम्बे-चौड़े (एवं कठमुल्लावादी मार्क्सवादी) तर्कों का धुआं उड़ा कर यदि **बिगुल** के सम्पादक इस बुनियादी सवाल से किनारा काटने की कोशिश कर रहे हैं तो वे अपने को ही नुकसान पहुंचा रहे हैं, हमें नहीं। वे अपने ही ध्येय के प्रति वफादारी का परिचय नहीं दे रहे हैं।

दूसरी बात यह कि सीधे-सीधे राजनीति देने का मतलब यह कत्तई नहीं होता कि आप रटे-रटाये 'मार्क्सवादी सूत्रों' का भोंपू बजाकर पाठकों पर बौद्धिक आतंक कायम करने का काम करें। ऐसा बौद्धिक आतंक इंकलाब के किसी काम का नहीं होता है। इससे न तो व्यापक जनता समाजवाद के प्रति आकर्षित होती है और न ही यह अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों या समाजवाद के सिपाहियों (इंकलाबी कार्यकर्ताओं) के प्रशिक्षण में कोई मदद पहुंचाता है। भारी-भरकम मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग किये बगैर भी सामान्य हिन्दुस्तानी में सीधे-सीधे राजनीति दी जा सकती है। पाठकों को सामान्य बोधगम्य हिन्दुस्तानी में भी इंकलाब की जटिल समस्यायें और पहलू समझाये जा सते हैं। इसके लिए हमें स्तालिन और माओ की शैली का अनुसरण करना चाहिए या लेनिन की उस शैली को आत्मसात करने की कोशिश करनी चाहिए जिसे वे 'गांव के गरीबों से' में प्रयोग करते हैं।

समाजवादी क्रान्ति, मार्क्सवाद के बिना नहीं हो सकती है। परंतु मार्क्सवाद जिंदगी और जीवन-संघर्षों का दर्शन है। अगर इसे मेहनतकशों की जिंदगी और जन-संघर्षों के साथ न जोड़ा जाये तो यह जड़सूत्र बन कर रह जाता है या संशोधनवाद में परिवर्तित हो जाता है। **बिगुल** हिरावलपंथी न बना रहे इसके लिए हमारा अनुरोध है कि आप मार्क्सवादी शिक्षकों के कथन तब तक न इस्तेमाल करें जब तक कि आप इन्हें लोक-जीवन और लोक-संघर्षों से जोड़ कर न समझायें। मार्क्सवादी शिक्षकों के कथनों को लोक-जीवन व लोक-संघर्षों से काट कर, अमूर्त ढंग से पेश करते रहने को सीधे-सीधे राजनीति देना नहीं कहते। ऐसा करने से **बिगुल** केवल अपनी प्रस्तुति में ही मार्क्सवादियों का अखबार लगता

(पृष्ठ 5 पर जारी)

(पृष्ठ 4 से आगे)

है, परन्तु अपनी अंतर्वस्तु में वह एक हिरावलपंथी अखबार बन कर रह जाता है और वह भी बड़े उथले किस्म का हिरावलपंथी।

आपने चुटकी लेते हुए हमसे जानना चाहा है कि **बिगुल** की लाली कितनी कम कर दी जाये या इसे कितना पतला कर दिया जाये कि काम चले। हमारा कहना है कि **बिगुल** पहले ही बहुत पतला और गुलाबी है। इसे गाढ़ा और लाल बनाने की जरूरत है ताकि यह समाज में कुछ हलचल पैदा कर सके। आप समझते हैं कि यह एक एजिटेशनल अखबार है। परंतु हमारी राय यह है कि यह कहीं से भी एजिटेशनल अखबार नहीं है। एक एजिटेशनल अखबार बनने के लिए इसे लोगों के जीवन की विशिष्ट घटनाएं एवं तथ्य उठाने होंगे, जन-सामान्य की भाषा और समाज में प्रचलित उदाहरण लेकर पाठकों में पूंजीवादी राजसत्ता और पूंजीपति वर्ग के प्रति गुस्सा और नफरत पैदा करनी होगी। अपने वर्तमान स्वरूप में **बिगुल** पाठकों को कत्तई एजिटेट नहीं करता है। यह अखबार कभी-कभार प्रोपगेण्डा करने का प्रयास करता है। इसमें भी वह रटे-रटाये फिकरों तक सीमित होकर रह जाता है।

सीधे-सीधे राजनीति देकर क्रान्ति के काम को आगे बढ़ाना बड़ी अच्छी बात है। सीधे-सीधे राजनीति देने का मुगालता पालना बड़ी बुरी बात है। **बिगुल** की त्रासदी यह है कि यह सीधे-सीधे राजनीति नहीं दे रहा है। सीधे-सीधे राजनीति देने के लिए जुमलेबाजी से बचना होता है, सरल लोकप्रिय भाषा का इस्तेमाल करना होता है, अमूर्त सूत्र बताने के बजाय लोक-जीवन के ज्वलंत मुद्दे उठाकर पाठकों को समाज में हो रहे शोषण का वर्गीय स्वरूप समझाना होता है, राजसत्ता से वर्गीय-शोषण का अन्तर्सम्बन्ध समझाना होता है, मेहनतकशों को एकताबद्ध होने और क्रान्ति की जरूरत का एहसास करवाना होता है, संगठन बनाने का रास्ता दिखाना होता है, राजसत्ता को पलटने का हौसला पैदा करना होता है...। मार्क्सवादी शब्दांडम्बर का धुआं उड़ाते हुए, अमूर्तता में समाजवाद के झंडा को हिलाते रहने को सीधे-सीधे राजनीति देना नहीं कहते।

अगर आप चाहते हैं कि हम और गहराई में जाकर आपके हिरावलपंथ की आलोचना करें तो ऐसा कीजियेगा कि प्रवेशांक से लेकर अब तक हमें **बिगुल** के सारे अंक पहुंचा दीजिए। हम आपकी गाली-गलौज के बावजूद आपकी मदद करने को तैयार हैं।

द्वंद्ववाद का नमूना

आपने अपने लेख में पार्टी गठन और पार्टी निर्माण के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में बात की है। जैसा कि आपकी शैली है, जब आप औपचारिक सूत्र दुहरा रहे होते हैं तो सामान्य बातें कह देते हैं लेकिन जैसे ही आप विशिष्ट बातों पर आते हैं, आपका अपना अंतरविरोध उजागर होकर सामने आ जाता है। **बिगुल** के 'टारगेट रीडर ग्रुप' के बारे में हम यह पहले ही देख चुके हैं। यहां भी यही देखने को मिलता है। पहले तो आप घोषित कर देते हैं कि पार्टी गठन और पार्टी निर्माण में द्वंद्वात्मक अंतर्सम्बन्ध है लेकिन उसके तुरंत बाद ही आप अपने श्रेणी विभाजन पर आ जाते हैं, हालांकि अपनी वास्तविक पोजीशन को बचाने के लिए आप यह भी कह देते हैं कि अलग-अलग पार्टी आर्गन्स के बीच चीन की दीवार नहीं खींची जा सकती। आपके श्रेणी विभाजन को यदि बिना लाग-लपेट के रखें तो इस तरह दिखेगा।

प्रचारक→ जार्या, ज्वेज्दा→ पार्टी गठन

आंदोलनकर्ता→ इस्क्रा, प्राव्दा→ पार्टी निर्माण

यह आपके श्रेणी विभाजन प्रेम का ही नतीजा है जो आपको इस नतीजे तक ले जाता है, जिसकी हास्यास्पद स्थिति को हम अभी देखेंगे। यही श्रेणी विभाजन प्रेम आपको दैनिक बनाम पाक्षिक या मासिक अखबार तथा कानूनी बनाम गैर कानूनी अखबार का विभाजन करने और उन्हें राजनीतिक फर्क करने का मूल आधार बनाने तक ले जाता है।

अब, आपका श्रेणी विभाजन ठीक है तो **इस्क्रा** ने 1900-1903 के बीच पार्टी निर्माण की भूमिका निभाई, हालांकि अभी पार्टी का गठन ही नहीं हुआ था। और शब्दशः आप यही बात कहते भी हैं। लेकिन खुद बोल्शेविक पार्टी आपसे इस मसले पर इत्तफाक नहीं रखती। पहले हमने जो उदाहरण दिये हैं उनसे साफ है कि बोल्शेविक पार्टी **इस्क्रा** का योगदान "पार्टी गठन" में मानती है, "पार्टी निर्माण" में नहीं। और वास्तव में हुआ भी यही था। अन्यथा हो भी क्या सकता था। जो पार्टी अभी गठित ही नहीं हुई, उसके निर्माण का सवाल कहां से पैदा हो गया? लेकिन आपके श्रेणी विभाजन का तर्क आपको ऐसे ही हास्यास्पद निष्कर्षों तक ले जा सकता है।

इसकी उल्टी बात भी आपको हास्यास्पद नतीजे तक ले जायेगी। मसलन "ज्वेज्दा" जो आपके हिसाब से प्रचारक पत्र था, उसकी भूमिका पार्टी गठन में बनती है। अब आपसे कोई सवाल पूछ सकता है कि जब पार्टी का गठन तो पहले ही हो चुका हो (ठीक, आप द्वारा दी गयी परिभाषा के अनुसार ही) तब यह पत्र क्या करेगा? ठीक क्रान्ति के पहले (या क्रान्ति के बाद भी) कोई सुसंगठित पार्टी 'जार्या' या 'ज्वेज्दा' जैसा पत्र निकाले तो वह पत्र क्या काम करेगा? पार्टी गठन का? लेकिन आपका तर्क आपको ऐसे ही नतीजों तक ले जा सकता है। इनसे बचने के लिए तब आप 'द्वंद्वात्मक अंतर्सम्बन्धों' की बात करने लगेंगे।

यहीं पर हम यह स्पष्ट कर दें कि पार्टी गठन और पार्टी निर्माण तथा इनमें पार्टी आर्गन्स की भूमिका के आपके उपरोक्त गैर द्वंद्ववादी दृष्टिकोण का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि आपने यहां पर पार्टी गठन और पार्टी निर्माण का सवाल उठाकर बात को गलत जगह ले जाने की कोशिश की है। बात को भटकाने की कोशिश की है (शायद यह भी आपकी 'द्वंद्ववादी' शैली का नमूना हो)। लेकिन इसी में आपकी सबसे बड़ी कमजोरी और सबसे बड़ी समस्या भी छिपी है।

इस पूरी बहस में केन्द्र बिन्दु पार्टी गठन और पार्टी निर्माण नहीं बल्कि जनदिशा (Mass line) का सवाल है और आपकी सबसे बड़ी समस्या है कि आपने इसका पूरे लेख में जिक्र तक नहीं किया है। अब आप यह न कहें कि जन दिशा का सवाल, पार्टी गठन/पार्टी निर्माण का सवाल है। सवाल तो यह क्रान्ति का भी है और मार्क्सवादी दर्शन का भी। तब क्या हम इन पर बात करने लगेंगे?

जनता के किस हिस्से को कितनी चेतना, किस भाषा-शैली और रूप में दें, यह जन दिशा का सवाल है। वैसे जनदिशा के और भी पहलू हैं। फिलहाल हम अखबार के प्रचारक-आंदोलनकर्ता होने के पहलू से इस पर बात कर रहे हैं। 'व्यापक मजदूर आबादी' में चेतना उन्नत मजदूरों को ध्यान में रखकर देनी है या औसत मजदूरों को, यह इससे तय होगा कि क्या आप जन दिशा के मामले में सही रुख अख्तियार कर रहे हैं। यदि आप ऐसा करते तो आप "औसत चेतना" पर इतनी हाय-तोबा नहीं मचाते और न ही उसे 1899 के क्रीडो मतावलम्बियों से जोड़ने का प्रयास करते। तब आप इस बात से इतना परेशान नहीं होते कि पार्टी कतारों और अग्रणी मजदूरों के लिए '**इस्क्रा**' जैसा अखबार होना चाहिए और **आम मजदूरों** के लिए '**प्राव्दा**'' जैसा आम राजनीतिक अखबार। और तब न तो आप '**इस्क्रा**' और '**प्राव्दा**'' में घालमेल करते और न ही 'अग्रणी वर्ग सचेत मजदूर' और 'व्यापक मेहनतकश आबादी' में।

आपकी सोच में निहित यह घालमेल आपके व्यवहार में भी रंग लाता है। न केवल **बिगुल** की समस्या यह है कि वह क्या, किसके लिए छापता है, इस मामले में वह 'संभ्रम, दिग्भ्रम व मतिभ्रम' का शिकार है, बल्कि इसके वितरण का भी यही हाल है। आप हमारी मासूमियत पर तरस खाते हैं कि हम नहीं जानते कि **बिगुल** एक क्रान्तिकारी धड़े का अखबार है। लेकिन हम क्या करें? **बिगुल** के वितरक साथी, **बिगुल** को **बिगुल मजदूर दस्ता** का अखबार बताते हैं। अब, इस बात से तो हम क्या कोई भी यही निष्कर्ष निकालेगा कि **बिगुल** जनसंगठन की चेतना के स्तर का अखबार है। आप इसे यदि पार्टी की चेतना का अखबार कहें, तो यह घालमेल के अलावा क्या है? इसी तरह **बिगुल** के वितरक साथी **बिगुल** को केवल **अग्रणी वर्ग सचेत मजदूरों** को देने के बदले हर आम मजदूर को पकड़ा देते हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं जो **बिगुल** में प्रयुक्त मार्क्सवादी शब्दावली के 90 प्रतिशत से अनभिज्ञ होते हैं, उसमें कही गयी बातों की तो बात ही क्या की जाये! अग्रणी वर्ग सचेत मजदूरों के लिए अखबार निकालना और उसे हर खासो-आम को पढ़वाने का प्रयास करना क्या सोच की उसी घालमेल का व्यावहारिक प्रतिफलन नहीं है? क्या यह जन दिशा के बारे में 'मिथ्याभासी' चेतना का मामला नहीं है?

क्रीडो मत पर चन्द बातें

क्रीडो मत के सम्बन्ध में चंद बातें कर लेना जरूरी है! इसलिए नहीं कि आप के आरोप में कुछ दम है (आपके आरोप को हम पहले ही रद्द कर चुके हैं और उसे दो-कौड़ी का भी नहीं मानते हैं) इसलिए कि आप खुद समझ सकें कि आरोप लगाने का आपका तरीका कितना सतही, छिछला और ओझां-सोखों जैसा है। इसलिए कि आपको खुद एहसास हो कि आप मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी बनाने के काम को कितनी अगम्भीरता से ले रहे हैं। इसलिए कि आपको समझ में आये कि लेनिन की पार्टी बनाने के तरीके में और आपके तरीके में कितना अंतर है।

क्रीडो मत क्या था? क्रीडो मतावलम्बियों का मानना था कि—

- पश्चिमी यूरोप के सर्वहारा वर्ग ने राजनीतिक आजादी हासिल करने के संघर्षों में कोई भूमिका अदा नहीं की।
- औद्योगिक सर्वहारा में संगठनबद्ध होने की क्षमता नहीं होती है। वह बहुत धीमे-धीमे और बहुत अनमने ढंग से संगठन बनाने के लिए तैयार होता है। वह केवल ढीले-ढाले और कमजोर संगठन ही बना सकता है।
- रूस की विशेष स्थितियों में सर्वहारा द्वारा राजनीतिक संघर्ष की कोई सम्भावना नहीं थी क्योंकि रूसी सर्वहारा बहुत कमजोर था और रूस में राजनीतिक उत्पीड़न बहुत ज्यादा था। राजनीतिक संघर्ष का काम उदार पूंजीपति वर्ग के जिम्मे छोड़ दिया जाना चाहिए।
- सर्वहारा वर्ग की स्वतंत्र पार्टी बनाने की सारी बातें, रूसी भूमि पर विजातीय (विदेशी) लक्ष्य आरोपित करने के समान हैं।
- रूसी मार्क्सवादी के सामने एक ही रास्ता बचता है, वह यह कि रूसी मार्क्सवादी आर्थिक संघर्षों में मदद और उदार पूंजीपतियों के नेतृत्व में राजनीतिक गतिविधियों तक अपने आप को सीमित रखें।
- मार्क्सवादियों की वर्गीय रूपरेखा (Schema) उन्हें सामाजिक जीवन में खुलकर हिस्सेदारी करने से रोकती है। उन्हें इसे त्याग कर उदार-जनवादी मार्क्सवादी बन जाना चाहिए।

ये क्रीडो मत के चारित्रिक लक्षण हैं। इन्हें समग्रता में मानने वाले किसी व्यक्ति को क्रीडो मतावलम्बी कहा जा सकता है।

अगर आप किसी को 1999 के भारत के क्रीडो मतावलम्बी कहना चाहते हैं, तो आपको उसमें ये छः चारित्रिक लक्षण दिखाने पड़ेंगे। इसमें आप रूस की जगह भारत इस्तेमाल कर सकते हैं। आपने एक विशिष्ट आरोप लगाया है, इसलिए कायदन आपको क्रीडो मत के सभी लक्षण दिखाने चाहिए। परन्तु अगर आपको बच्चा मानकर रियायत भी दे दी जाये तब भी आपको इनमें से अधिकांश लक्षण दिखाने चाहिए। आरोप लगाते वक्त आपकी हालत यह है कि आप मनगढंत बातें इकट्ठी करते हैं, उन्हें सामने वाले के मुंह में ठूंसते हैं और आरोप लगाकर आह्लादित हो जाते हैं।

आपके आरोप का आधार ऐसी बातें हैं जो सामने वाले ने कही ही नहीं हैं, और न ही ऐसी बातें जिनका अभिप्राय भी वह निकलता हो, जो आप आरोप में इस्तेमाल करते हैं। अगर सामने वाला दौर की जरूरतों को मद्देनजर रखते हुए जनता के बीच काम करने की बात कर रहा हो और इसके लिए रूस के क्रान्तिकारियों का उदाहरण ले कि कैसे वे अलग-अलग दौरों के हिसाब से अपने काम के तरीके बदलते रहे, तो आप मनोगत होकर इसका मतलब यह समझते हैं कि वह आर्थिक-सांस्कृतिक कार्यों तक सीमित रहने की कोशिश कर रहा है। कामरेड, यह मनोगतवाद की इन्तहा है। लम्बे समय तक अगर आप यही कार्यशैली अपनाते रहे तो आपकी हालत यह हो जायेगी कि आइने में अपना चेहरा देखने पर आपको लगेगा कि आप कार्ल मार्क्स हैं।

लेनिन के तरीके और आपके तरीके में अन्तर यह है कि लेनिन कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़ने की बाजीगरी नहीं करते थे। हमारा आपसे अनुरोध है कि आप लेनिन की संग्रहीत रचनाओं के खण्ड 4 में से 'ए प्रोटेस्ट बाई रसियन सोशल-डेमोक्रेट्स' पढ़ें। इस लेख में लेनिन सबसे पहले पूरा का पूरा क्रीडो घोषणापत्र उद्धृत करते हैं। उसके बाद वे मनोगत होने के बजाय, उन्हीं बातों को हू-ब-हू वैसे ही लेते हैं जैसे लेखक ने उन्हें कहा है, और एक-एक महत्वपूर्ण बात का खण्डन करते चले जाते हैं। लेनिन कहीं भी सामने वाले की बात को खींच कर उसका मतलब बदलने की हिमाकत नहीं करते। और न ही वे अपने खण्डन के दौरान सामने वाले की खिल्ली उड़ाने की हरकत करते हैं। वे सामने वाले की गलत सोच को ठीक करने के लिए उससे गम्भीर संघर्ष करते हैं। रूस के सामाजिक-जनवादियों के इस प्रतिवाद को कई बार पढ़ कर आप को सीखना चाहिए कि पार्टी बनाने के हर काम को कैसी गम्भीरता से एक इंकलाबी को लेना चाहिए।

दोस्तो, आपको हमारी नेक सलाह है कि ऐसी छिछली कार्य शैली को छोड़ें। आत्म संघर्ष करके जल्दी से जल्दी छोड़ें। जब तक आप इससे मुक्त नहीं होते, तब तक देश के क्रान्तिकारी भी, आप में वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता के अभाव की वजह से, आपको अगम्भीर लोग मानने के लिए विवश होंगे और आपके साथ एकता करने के प्रति अनिच्छुक रहेंगे।

अखबार में नामों का प्रयोग

हमारा स्पष्ट मत है कि अखबार पाठक समूह की चेतना को आगे बढ़ाने के लिए निकाला जाता है, न कि अपना 'बायो-डाटा' सुधारने के लिए। पाठक-समूह की चेतना पर इससे फर्क पड़ता है कि अखबार में क्या लिखा जाता है, न कि इससे कि लेखक का क्या नाम है। अखबार किसी भी हालत में व्यक्तिगत शोहरत हासिल करने का माध्यम नहीं होना चाहिए। अगर एक कानूनी पत्र निकाला जा रहा है तो भारतीय कानूनों के तहत यह जरूरी हो जाता है कि अखबार के मालिक एवं सम्पादक का नाम दिया जाये। इससे बचकर कानूनी अखबार निकाला नहीं जा सकता है। ऐसी स्थितियों में हमारी राय है कि क्रान्तिकारियों को अपने अखबारों में 'प्रिण्ट लाइन' के अलावा कोई और नाम देने की जरूरत नहीं है। पाठकों के पत्र नाम से देना एक अलग बात है।

बिगुल के सम्पादक का मत है कि भूमिगत कार्यकर्ताओं को छोड़कर शेष लेखकों के नाम दिये जाने चाहिए। इससे लेखकों की राजनीतिक लाइन पर नजर रखने में मदद मिलती है और बाद में इनमें से जब कोई संशोधनवाद करने लगे तो उसके विचलन की जड़ें तलाशी जा सकती हैं।

बिगुल के सम्पादक एवं लेखक अपने आपको हिन्दुस्तानी क्रान्ति का केन्द्र समझते हैं, यह जानकर हमें काफी हैरानी हुई। दोस्तो, माओ बनने के दिवास्वप्न देखना एक मानसिक रोग है। इसके बजाय आपको क्रान्ति के काम की व्यावहारिक योजनाएं बनानी चाहिए। एक क्रान्तिकारी को सपने देखने चाहिए, किन्तु खुद की महानता के बजाय जनता की मुक्ति और खुशी के सपने देखने चाहिए।

अगर फिर भी आप अखबार में लेखकों के नाम देने की बात इसलिए सोचते हैं ताकि बाद में राजनीतिक लाइन तलाशी जा सके, तो भी हमारी सलाह है कि लेखकों को गुमनाम बनाये रखते हुए भी इस समस्या का समाधान हो सकता है। आप ऐसा कीजिये की बाजार से 10 रुपये की एक कापी खरीद लें और **बिगुल** के सम्पादकीय मेज के दराज में उसे चाबी लगाकर रखें। इस कापी में हर लेख और उसके लेखक का रिकार्ड बनाते चलिये। बस इतना कर लेने से लाइन की तलाशी के लिए रिकार्ड की समस्या हल हो जायेगी (चाहे तो रिकार्ड की दो प्रतियां बनायें जिनमें से एक को अपने अभिलेखागार में सुरक्षित रखें)।

गुमनाम लेखन करना केवल भूमिगत जीवन की जरूरतों के लिए जरूरी नहीं है, लेखक की मानसिक सेहत के लिए भी जरूरी है। परन्तु आप तो इसके विपरीत मत रखते हैं चलिए, हम ही आपसे दो सवाल पूछ लेते हैं? **बिगुल** में न केवल लेखकों के नाम छपते हैं बल्कि अनुवादकों के भी नाम छपते हैं। क्या आप बतायेंगे कि अनुवाद में कौन सी लाइन तलाशेंगे, (और वह भी तब जब अनुवाद में प्रयोग किये गये शब्दों की अन्तिम जिम्मेदारी सम्पादक की होती है) दूसरा सवाल यह कि क्या हम मानें कि जिन साथियों के असली नाम **बिगुल** में अब तक छपे हैं, उनका भूमिगत जीवन समाप्त हो गया है? यहां हम अभी यह सवाल नहीं उठा रहे हैं कि जो लेख, लेखक के बजाय किसी और के नाम से छपते हैं उनमें "लाइन की गलती" की जिम्मेदारी लेखक की होगी या उस व्यक्ति की जिसका नाम छापा गया है। फर्ज कीजिए कि अगर यह सम्पादकीय जवाब यदि आपने नहीं, किसी और ने लिखा हो तो इसमें लाइन की जिन गलतियों को हमने चिन्हित किया है, उसका जिम्मेदार कौन होगा? आप या वह लेखक?

अस्तु

कुल मिलाकर आपके जवाब के बारे में मेरी राय यह है कि आप **बिगुल** के लक्ष्य और स्वरूप के बारे में **संभ्रम-मतिभ्रम-दिग्भ्रम** के शिकार हैं, अपने पाठकों की चेतना के बारे में बिलकुल अंजान हैं और **बिगुल** को अपना पंडिताऊपन झाड़ने तथा अपनी भड़ास निकालने के साधन के तौर पर इस्तेमाल कर रहे हैं। इसके लिए आप शब्द जाल-वाक्य जाल- (कु)तर्कजाल का भरपूर प्रयोग करते हैं। पार्टी संगठन और जनसंगठन के चरित्र और उनके आपसी रिश्तों से या तो आप बिलकुल अनभिज्ञ हैं या फिर 'मिथ्याभास' के शिकार हैं। फलस्वरूप पार्टी कतारों-उन्नत चेतना वाले वर्ग सचेत मजदूरों के अखबार और व्यापक मेहनतकश आबादी के अखबार के बीच मूल फर्क को आप नजरअंदाज करते हैं और जब प्रोपगेण्डा और एजिटेशन के धूम्रावरण में अपनी अवस्थिति को सही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं तो हास्यास्पद लगने लगते हैं। जब आप दार्शनिक उड़ान भरते हैं तो द्वंद्ववाद को भोंडेपन की हद तक ले जाते हैं।

साथी, इन सारे मसलों पर गौर करें और यदि सम्भव हो तो इन्हें ठीक करें। यदि इन मसलों पर आपका नजरिया ठीक हो जाता है तो अन्य मुद्दों पर भी आपसे बहस-मुबाहिसे का रास्ता खुल जायेगा।

उम्मीद है कि आप बहस को जारी रखेंगे।

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ

आपका साथी

पी.पी. आर्य, पंतनगर

(पृष्ठ 2 से आगे)

सांगठनिक कामों में एक विचारधारात्मक अखबार की उपयोगिता और उसकी आवश्यकता को कभी भी और कहीं भी नहीं नकारे हैं। एक क्रान्तिकारी अखबार यदि विचारधारा को सर्वहारा में ले जाता है तो उससे सांस्कृतिक कार्य और आर्थिक आन्दोलन जिसके माध्यम से आम मजदूरों को शिक्षित करने का काम किया जाता है, कैसे बाधित होता है? क्या **बिगुल** निकालने वाले, सांस्कृतिक कार्यवाही और आर्थिक आन्दोलनों से सर्वहारा को चेतना देने का काम नहीं करते हैं? अब आप स्वयं ही विचार करें कि स्थान-काल का अनदेखा और लेनिन की शिक्षा का गलत इस्तेमाल कौन कर रहा है—आप या संपादक?

महोदय, आपने अपने बारहवें पैरा में भारत के औसत मजदूरों को परिभाषित करने की बात उठायी है। आप तो औसत मजदूर में आयेंगे नहीं क्योंकि आपका संस्तर औसत मजदूर की संस्तर से बहुत ऊंचा है और जिन मजदूरों को 'चना जोर गरम' की शैली में लिखा जाता है वे भी औसत मजदूर में नहीं आयेंगे क्योंकि ये इतने पिछड़े हैं कि दो पैरा पीछे की बातें भूल जाते हैं जिनको आम मजदूरों का विशाल घेरा आपने बताया है। इन दोनों संस्तरों के बीच इस लम्बे गैप में कोई संस्तर बनता है कि नहीं? 'चना जोर गरम' की शैली में लिखने वाले लेखकों को किस संस्तर में डालना चाहते हैं? मेरा मानना है कि इन दोनों संस्तरों के बीच का संस्तर ही उन औसत मजदूरों का संस्तर है जिनको परिभाषित करने की बात उठाये हैं। इनकी संख्या भले ही कम है पर किसी भी हालत में शून्य नहीं हैं। ये भारत के औसत मजदूर क्रान्तिकारी चेतना के अभाव में बुर्जुआ राजनीतिक ठग वैद्यों, धुर दक्षिणपंथी नटों, मेन्शेविक गिरहकटों के हाथों में खेल रहे हैं।

महोदय, 'चना जोर गरम' जुमले के इस्तेमाल को खिल्ली मानते हैं। यानी आप के विचार से चना जोर गरम बहुत नीच, घिनौना शब्द है। लेखक ने तो उस शब्द को सरलता के भाव में तुलनात्मक प्रयोग किया है और आप उसे घृणित और नीच भाव से ले रहे हैं। तब चना बेचने वालो को आप क्या समझते होंगे? यही है आप के कम्युनिस्ट सामूहिकता का दर्शन। **बिगुल** की शैली कन्फ्यूशियसवादी शैली आपको नजर आ रही है। अभी आप पीछे कह आये हैं कि **बिगुल** का कोई स्तर नहीं है। आप की इस दोहरी बातों से आप ही बताइये कि आपको कहां रखा जाये? उच्च क्रान्तिकारी संस्तर में या आम मजदूरों की घेरे में? यदि आप आम मजदूरों के घेरा के जीव हैं तो जरूर **बिगुल** की शैली आपको कन्फ्यूशियस शैली लगेगी ही। तब **बिगुल** आपके लिये नहीं, भारत के उन्नत चेतना वाले और औसत मजदूरों के लिए हैं। तब आप नाहक लेनिन, स्तालिन और माओ की किताबों की गदा को आजमाने की ढिठाई कर रहे हैं। आपके प्राथमिक शिक्षक औसत मजदूर हैं। यह नई बात नहीं है कि **बिगुल** जैसे राजनीतिक प्रचारक अखबारों को आज ही हिरावलवादी कहा जा रहा है, इसके पूर्व भी जितने क्रान्तिकारी अखबार क्रान्तिकारियों द्वारा निकाले गये हैं, उन सभी अखबारों को विरोधियों द्वारा हिरावलवादी, आतंकवादी पता नहीं और क्या-क्या कह कर बदनाम करने की कोशिश करते रहे हैं। सच ही तो ऐसे अखबारों से साम्राज्यवादी पांसुओं की जिन्दगी कुचली जाती है और अवश्य कुचली जानी चाहिए। आम मजदूरों की वर्गीय चेतना को "**बिगुल**" जैसा अखबार नहीं बल्कि मेन्शेविकों, संशोधनवादियों, अर्थवादियों, उदारवादियों की लिजलिजी नीतियां ही भोथरा बनाई हैं। जो हमेशा जन दिशा के विरोधी रही हैं।

महोदय, आपने तेरहवां पैरे में माओ के कोटेशन से समझाने की कोशिश किये हैं कि जन आकांक्षाओं का धीरज के साथ इंतजार करना चाहिए। महोदय, सिर्फ माओ के कोटेशन का पाजामा सिला लेने से कोई माओवादी अथवा क्रान्तिवीर नहीं बन जाता। माओ अपने इस कोटेशन में जन समुदाय को जागरूक बनाने के लिए क्रान्तिकारी विचारधारा की मनहाई नहीं किये हैं और न कहीं यही कहे हैं कि जन समुदाय की परिवर्तन की संकल्पबद्धता को विकसित करने के लिए क्रान्तिकारी प्रयास न किया जाये। आप द्वारा कोट किया गया माओ के कोटेशन का क्या मतलब है? मतलब यह है कि जनता को बगैर शिक्षित किये किसी क्रान्तिकारी कार्यवाही (संघर्ष) में उतारने के लिए बलात आदेश को लादना गलत होगा। इसके परिणाम गलत होंगे और अपने आदेश को लादने वाला जनता से कट जायेगा। यही हिरावलवाद है और जन दिशा का निषेध है। अपने लेख में माओ इसी प्रवृत्ति से बचने की शिक्षा देते हैं।

महोदय, आप अपने आखिरी (चौदहवें) पैरा में आपने बिना प्रश्न उठाये ही **बिगुल** का वितरण श्रेय **बिगुल** के वितरकों को दे डाले हैं और आखिरी में आप खोले हैं कि वितरक साथियों के मेहनतक मशक्कत की बदौलत **बिगुल** की 75 प्रतिशत से अधिक प्रतियां मजदूरों में बंट रही हैं न कि **बिगुल** के लेखों की अन्तर्वस्तु की बदौलत।

बिगुल के वितरकों को **बिगुल** के लेखकों से अलग करके देखना ढांचागत दृष्टि दोष है, कम्युनिस्ट सामूहिकता की टांग पकड़ कर परनाले में घसीटना है। हम आपसे पूछते हैं कि क्या बिगुल-वितरक आसमान से टपके हैं या संगठन के प्रयास से बिगुल-वितरक बने हैं? यदि संगठन के प्रयास से बिगुल-वितरक बने हैं तो फिर लेखक संगठन से बाहर कैसे है और **बिगुल** वितरण में कैसे नहीं उनकी भूमिका बनती? **बिगुल** के वितरकों से 75 प्रतिशत **बिगुल** जो पाठक (मजदूर) खरीदते हैं, क्या वे **बिगुल**-वितरकों का मुंह देखकर खरीदते हैं, अन्तर्वस्तु से नहीं? आगे यह भी क्यों नहीं लिख दिये कि मजदूर **बिगुल** लेता भर है पढ़ता नहीं। यही है मनोगतवादी बातें, ऐसे लोग मनोगतवादी होते हैं। ये मेन्शेविकों के ही कुटुम्ब हैं।

महोदय, उपरोक्त लिखित आलोचना कटु हो सकती है पर किसी भी हालत में व्यक्तिगत डाह, और ईर्ष्या की दुर्भावना से प्रेरित नहीं है। **बिगुल** के लक्ष्य एवं स्वरूप पर स्वस्थ और कारगर बहस चलाया जाना चाहिए जिसमें व्यक्ति की आलोचना (व्यक्तिगत डाह) से ऊपर उठकर प्रवृत्तियों की व्याख्या हो। **बिगुल** की कमियों को व्यक्तिगत डाह-डंक मारे बिना भी रेखांकित किया जा सकता है। आशा है अगले पत्र में आप **बिगुल** के लक्ष्य एवं स्वरूप पर स्वस्थ एवं सार्थक आलोचना देंगे।

'देहाती मजदूर किसान यूनियन' के 'बिगुल' से जुड़े कार्यकर्तागण, मधुबन और मर्यादपुर (जि. मऊ)

(पृष्ठ 1, कालम 4 से आगे)

बुद्धिजीवी हैं। हम *''कमजोरवछिछले''* *''बुद्धिजीवी''* *''आत्म महानताकीकुण्ठाओंमेंजीने''* के साथ ही यदि लेनिन को गलत उद्धृत करते हुए *''पाठकोंकोझांसा''* देते हैं, तो भला हम *''कैरियरवादी''* के अतिरिक्त और क्या हैं?

जहां तक शीर्षक के अगले वाक्यांश की बात है, तो यह तो आप भी स्वीकार करेंगे कि आपने **'बिगुल'** को स्पष्टत: एक हिरावलपंथी अखबार कहा है क्योंकि यह मजदूर वर्ग की चेतना के स्तर का खयाल किये बगैर उसपर *''ऐसी बहुतसारीसामग्रीलादनेकीकोशिश''* करता है *''जोआन्दोलन कीआवश्यकताओंसेमेलनहीखातीहै।''* आपने इसके लिए पर्याप्त तर्क भी दिये हैं *(देखिए,आपका6मई, '99कापत्र,बिगुल, जून-जुलाई '99,पृ.6,दूसरापैरा)*। हमने आपके पत्र के इसी मूल मन्तव्य या प्रत्यारोप को—आपके पूरे पत्र की इसी मूल भावना को, शीर्षक में समेटा है। **सारी तोहमतें लगाने के बाद आप इन्हें सूत्रबद्ध करने से घबराते क्यों हैं? यहां सवाल किसकी नैतिकता का है** और आखिर आप इसतरह के मनगढ़न्त आरोप क्यों लगा रहे हैं, इसपर हम कुछ नहीं कहेंगे, क्योंकि तब आप फिर पिनपिनाने लगेंगे कि हम आपपर मनगढ़न्त आरोप लगा रहे हैं और गाली दे रहे हैं, और बहस फिर मूल मुद्दे से और अधिक दूर चली जायेगी।

3. आपकी एक आपत्ति यह है कि बुद्धिजीवियों के बारे में आपने (अपने 6 मई के पत्र में) **लेनिन** का जो लम्बा उद्धरण दिया है, उसमें से जान-बूझकर हमने उद्धरण-चिन्ह हटा दिये हैं, जिससे ये लगे कि ये बातें **लेनिन** की न होकर आपकी हैं। स्पष्ट कर दें कि आपका पत्र कोई नुक्ता तक लगाये बिना (सिर्फ शीर्षक देकर) कम्पोजिंग के लिए दे दिया गया। हमें प्राप्त पत्र की फोटो प्रतिलिपि के सूक्ष्म-मद्धम उद्धरण चिन्हों पर कम्पोजीटर द्वारा गौर न किये जाने और प्रूफरीडर साथी की लापरवाही के कारण यह गलती हुई है, जिसका हमें खेद है। पर लेनिन की प्रसिद्ध पुस्तक के इस प्रसिद्ध उद्धरण को आपका कथन सिद्ध कर देने से भला हमारी अवस्थिति को क्या लाभ मिलता? इसमें नीयत में खोट आप किस रूप में निकाल रहे हैं? आप में प्रचुर विद्वता और अनुभव हो भी, तो हम आपके मुंह में लेनिन की बात ठूंसकर, आपको उनके समकक्ष रखने की हिमाकत तो नहीं ही करेंगे।

4. आपका कहना है कि हमने अपने जवाब में आपको *''अनेकविशेषणोंऔरमनगढ़न्तआरोपोंसेसुशोभितकियाहै।''* आपने हमारे इन विशेषणों की एक सूची प्रस्तुत की है। हम आपसे विनम्रतापूर्वक दो बातें कहना चाहते हैं। **पहली** तो यह कि यदि ऐसे ही अलंकारों, विशेषणों को आपके दोनों पत्रों से छांटकर, सन्दर्भहीन ढंग से सूची तैयार की जाये तो यह आप द्वारा प्रस्तुत सूची से बहुत अधिक लम्बी होगी।

दूसरी बात यह कि आप जैसों को राजनीतिक प्रवृत्ति के चरित्र-निरूपण के लिए **जिस किसी भी** राजनीतिक विशेषण का इस्तेमाल किया गया है, उसके लिए हमने बहस शुरू करते हुए दिये गये प्रारम्भिक सम्पादकीय आलेख *बिगुल, अप्रैल,1999)* में और आपके 6 मई '99 के पत्र के प्रत्युत्तर *(बिगुलजून-जुलाई,1999)* में तफसील से तर्क दिये हैं। पहले ही लेख में हमने स्पष्ट रूप में कहा है कि **जिन लोगों की राय है कि मजदूर वर्ग के बीच सीधे-सीधे विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई से मजदूर वर्ग के अखबार को बचना चाहिए तथा महज आर्थिक संघर्षों के मुद्दों-कार्रवाइयों तथा नागरिक अधिकारों के इर्द-गिर्द लेख-टिप्पणियां रपटें छापकर आम मजदूरों की चेतना को थोड़ा ऊपर उठाने के बाद ही उनके बीच सीधे राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई संभव है; जो लोग एक मजदूर अखबार का मुख्य लक्ष्य-पाठक-समुदाय (Target Reader Group) औसत और निचली चेतना की व्यापक मजदूर आबादी को बताते हैं; जो लोग आर्थिक लड़ाइयां और यूनियनें खड़ी करने को ही ''सर्वोपरि क्रान्तिकारी काम'' मानते हैं और सोचते हैं कि इसी के जरिए मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के गठन और निर्माण का काम भी पूरा हो जायेगा, वे अर्थवाद और सामाजिक जनवाद की एक नई मेंशेविक प्रवृत्ति के शिकार हैं।** आपके 6 मई '99 के पत्र का विश्लेषण करते हुए पुन: **बिगुल** (जून-जुलाई, 1999) में प्रकाशित अपने उत्तर में हमने तफसील से तर्क देते हुए बताया है कि हम आपको *''1999केभारतकाक्रीडोमतावलम्बी''* और आपकी लाइन को अर्थवादी, सामाजिक जनवादी और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी भटकाव से ग्रस्त मानते हैं। अब आपकी दिक्कत यह है कि पूरे तर्कों के बावजूद आप विरोधी के राजनीतिक सूत्रीकरणों-विशेषणों को हर हाल में गाली मानने पर अड़े हैं और सन्दर्भों से कटे हवालों तथा तोड़े-मरोड़े गये तथ्यों के आधार पर खुद द्वारा किये गये गाली-गलौज को *'स्वस्थ पॉलिमिक्स'* समझते हैं। आपके ऐसे ही आरोप पर अपना स्पष्टीकरण हम पहले भी दे चुके हैं।

5. **'इस्क्रा'** और **'प्राव्दा'** के बुनियादी चरित्र के सम्बन्ध में मूल मुद्दे को हल्का (dilute) करते हुए और बहकाते हुए लम्बे-चौड़े उद्धरण के द्वारा आपने पाण्डित्य-प्रदर्शन की कोशिश की है। उसकी चर्चा तो हम आगे करेंगे। लेकिन आपके उस घटिया आरोप पर स्पष्टीकरण जरूरी है, जिसके द्वारा आपने हमारे ऊपर *'सोवियतसंघकीकम्युनिस्टपार्टी (बोल्शेविक) काइतिहास'* को गलत उद्धृत करने की बात कही है। हमने **'प्राव्दा'** के बारे में यह लिखा है कि उसने चौथी दूमा के चुनाव के पूर्व आगे बढ़े हुए कम्युनिस्टों को संगठित किया और मजदूर वर्ग की आम क्रान्तिकारी पार्टी के रूप में बोल्शेविक पार्टी को ढालने के लिए **प्राव्दा** की कार्यनीति ने राजनीतिक रूप से सक्रिय मजदूरों के अस्सी फीसदी का समर्थन हासिल किया। एक वकील की तरह आपने उक्त पुस्तक से उद्धरण देते हुए प्रश्न उठाया है कि 'परिणाम कैसे कारण बन गया है और कर्ता कैसे बदल गया है?' हम आपकी सेवा में निवेदन करना चाहते हैं कि हमने *'सोवियतसंघकीकम्युनिस्टपार्टी(बोल्शेविक) काइतिहास* (पृ. 181 से) से हू-ब-हू (Quote-unquote) उद्धरण नहीं लिया है, बल्कि **'प्राव्दा'** के बारे में पृ. 176 से लेकर 184 तक दिये गये विवरण के आधार पर अपना निचोड़ प्रस्तुत किया है। पृ. 181 के जिस वाक्यांश को आपने प्रस्तुत किया है, वहां यह चर्चा हो रही है कि बोल्शेविकों ने विसर्जनवादियों की कार्यनीति के खिलाफ राजनीतिक तौर पर सक्रिय मजदूरों में से 80 फीसदी को बोल्शेविक पार्टी और **प्राव्दा** की कार्यनीति के साथ खड़ा कर लिया। यहां जब हम चर्चा **प्राव्दा** के चरित्र और भूमिका की कर रहे हैं तो उन्हीं पृष्ठों पर दी गई सामग्री के आधार पर यह नतीजा निकालते हैं कि **प्राव्दा** ने राजनीतिक तौर से सक्रिय मजदूरों के अस्सी फीसदी का समर्थन हासिल किया, मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी खड़ी करने के लिए। वैसे सिर्फ बोल्शेविक पार्टी के इतिहास के उपरोक्त पृष्ठों के आधार पर ही नहीं, स्वयं आपने **प्राव्दा** के बारे में जो विवरण दिया है, उससे भी यही नतीजा निकलता है कि **प्राव्दा** ने मजदूर वर्ग की आम क्रान्तिकारी पार्टी खड़ी करने के लिए राजनीतिक रूप से सक्रिय मजदूरों के व्यापक हिस्से को साथ लिया।

जहां हमने बोल्शेविक पार्टी के इतिहास के पृ. 181 से हूबहू (Quote-unquote) उद्धृत किया है, वहां कुछ नहीं सूझने पर आपने यह आरोप थोप मारा है कि हमने कुछ शब्दों पर अपनी ओर से जोर दे दिया है और यह बताया नहीं है कि यह जोर हमारा है न कि मूल पाठ का। सचमुच बड़ी क्षुब्ध करने वाली बात है! कोई भी पाठक यह सहज ही देख सकता है कि अपने पूरे उत्तर में, 'बोल्ड' अक्षरों द्वारा सर्वत्र (उद्धरणों में भी) अपने ही जोर को रेखांकित किया गया है और इसीलिए कहीं भी ''जोर हमारा'' और ''जोर लेखक का'' लिखने की 'स्टाइल' नहीं चलाई गई है। बहुधा, यदि लेख में आये उद्धरणों में जोर वाले हिस्से न हों या उनकी चर्चा का कोई विशेष महत्व न हो या आप कोई दस्तावेज न लिख रहे हों तो लेखक ऐसी शैली अपना लेते हैं जो हमने चलाई है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उपरोक्त दोनों विकृतिकरण का जो आरोप आपने लगाया है, उनके न होने पर भी हमारे बुनियादी तर्क पर कोई फर्क नहीं पड़ रहा है। लेकिन आपको चूंकि इसीतरह की नुक्ताचीनी और घटिया आरोपों की आड़ में बुनियादी बात को दरकिनार करके कानूनची बुद्धिजीवियों और कम समझ वाले कार्यकर्ताओं को गफलत में डाल देना है, इसलिए आपने ऐसा करने की कोशिश की है।

इसीतरह की आपकी कुछ कानूनची-शैली में उठाई गई आपत्तियां हैं, पर इनकी अलग से चर्चा करने पर कुछ और पृष्ठ खर्च करने के बजाय हम इनकी चर्चा वहीं करेंगे, जहां विशिष्ट संदर्भों में ये हवाले आये हैं।

'मास पोलिटिकल पेपर' (Mass political paper)

इस उपशीर्षक के अन्तर्गत आपने अपने पत्र में हमारे ऊपर सबसे पहले यह आरोप लगाया है कि हमारे मुताबिक 'मास पोलिटिकल पेपर' शब्द कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के शब्दकोश में होना ही नहीं चाहिए और यह कि हम इसे सामाजिक-जनवाद की अभिव्यक्ति मानते हैं।

यह सरासर एक गलतबयानी है। या तो आप अपने विरोधी की बात पढ़ते-सुनते समय हद दर्जे के मनोगतवादी हो जाते हैं या फिर आपकी यह मजबूरी है कि अपनी बातों को सिद्ध करने के लिए आप तथ्यों को तोड़ें-मरोड़ें। आइये, **'बिगुल'** के जून-जुलाई '99 अंक में पृ. 5-6 पर प्रकाशित आपके 6 मई '99 के पत्र और पृ. 6-7-8 पर प्रकाशित हमारे प्रत्युत्तर के संदर्भित हिस्सों को एक बार फिर देखें।

आपने अपने पत्र में (कॉलम 3, पैरा- 3-4) में यह सवाल उठाया है कि **हम 'बिगुल' को भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का (या उनके एक ग्रुप) मुखपत्र मानते हैं?** आपके इस प्रश्न का जो हमने उत्तर दिया है उस पर फिर गौर कीजिए। आपने 'पार्टी ऑर्गन' और 'मास पोलिटिकल पेपर'—इन दो प्रवर्गों को एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ा किया था और इस पर हमारा कहना था, **''मास पोलिटिकल पेपर' शब्द का इस्तेमाल सामाजिक जनवादियों की छिछोरी शैली में न करें। कम्युनिस्ट पार्टियों के 'मास पोलिटिकल पेपर' उनके 'एजिटेशनल ऑर्गन' हुआ करते हैं।''**

बात को और स्पष्ट करें। आपका स्पष्ट कहना था (अब आप अपनी इस अवस्थिति में भी गोलमाल कर रहे हैं) कि **एक पत्र या तो 'पार्टी ऑर्गन हो सकता है या 'मास पोलिटिकल पेपर।' हमने इस सोच को सामाजिक जनवादी बताया था।** देखिये, कितने सलीके और चतुराई से आपने तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा है। हमारा कहना है कि **'मास पोलिटिकल पेपर' पार्टी का 'एजिटेशनल ऑर्गन' हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। जैसे कि एक देडवूनियन का मुखपत्र या एक सोवियत का मुखपत्र भी 'मास पोलिटिकल पेपर' की श्रेणी में ही आता है, पर वह 'पार्टी आर्गन' नहीं होता।** दूसरी ओर, **'प्राव्दा'** एक 'मास पोलिटिकल पेपर' था, पर वह एक 'एजिटेशनल पार्टी ऑर्गन' भी था। पार्टी का 'एजिटेशनल ऑर्गन' अपने आदर्श रूप में 'मास पोलिटिकल पेपर' ही हो सकता है, अब यह एक दीगर बात है कि किन्हीं प्रतिकूल या प्रारम्भिक स्थितियों में वह पत्र गैरकानूनी हो या उसका पाठक समुदाय सीमित हो अथवा किन्हीं अनुकूल या उभार की स्थितियों में, पत्र कानूनी हो या उसका बहुत बड़ा पाठक समुदाय हो। अपने पत्र के उसी हिस्से में हमने स्पष्टत: जोर देकर लिखा है, **''प्राव्दा बोल्शेविकों का दैनिक समाचार पत्र था। वह पार्टी का मजदूरों के लिए निकाला जाने वाला 'एजिटेशनल ऑर्गन' था।''** इतनी स्पष्टता के बावजूद आप हमारी बातों को तोड़-मरोड़कर जो मनमाना अर्थ निकालते हैं, उसका क्या मतलब निकाल जाये?

अपने इसी उपशीर्षक के अन्तर्गत आपने **'बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियां'** शीर्षक से हर अंक में छपने वाली स्थायी सामग्री से यह पहला वाक्य उद्धृत किया है, **''बिगुल व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा।''** फिर आप सवाल उठाते हैं कि **'बिगुल'** के स्वघोषित उद्देश्यों के हिसाब से क्या इसे एक 'मास पोलिटिकल पेपर' कहना गलत है? हमारा यह प्रतिप्रश्न है कि हमने ऐसा कहां कहा है? हमारा कहना यह है कि **'मास पोलिटिकल पेपर' एक व्यापक और ढीला (Loose) प्रवर्ग है और इसे 'पार्टी ऑर्गन' के प्रवर्ग के आमने-सामने खड़ा करके सवाल पूछने के पीछे का बोध (Perception) गलत है।** जब हमने साफ-साफ पिछले उत्तर में ही लिखा है कि *''बिगुल मजदूर वर्ग के लिए निकाला जाने वाला 'एजिटेशनल ऑर्गनहै''*, तो स्पष्टत: हम इसे एक 'मास पोलिटिकल पेपर' मानते हैं। यूं तो ''श्रेणी-विभाजन प्रेम'' को तोहमत आगे अपने पत्र में आप हमारे ऊपर ही लगा देते हैं, पर वस्तुत: 'प्रोपेगैण्डा' और 'एजिटेशन' के बीच आप जिस तरह 'चीन की दीवार' खड़ी करने का शौक रखते हैं उसे देखते हुए यह भी स्पष्ट करना यहां जरूरी लगता है कि 'एजिटेशनल ऑर्गन' होने का लक्ष्य लेकर चलते हुए भी वस्तुगत स्थितियों के दबावों-तकाजों के नाते **'बिगुल'** का जो स्वरूप सामने है वह (सीमित हदों तक) **'एजिट-प्रॉप ऑर्गन'** का है।

आपने अपने 21 अगस्त के पत्र में ('मास पोलिटिकल पेपर' उपशीर्षक के अंतर्गत) हमारे ऊपर आरोप लगाया है कि हम जबर्दस्ती आपके मुंह में वे बातें ठूंस रहे हैं जो आपने कही ही नहीं हैं और यह गलत आरोप लगा रहे हैं कि आप सीधे-सीधे क्रान्तिकारी विचारधारा और राजनीति के प्रचार के खिलाफ हैं जबकि आपने अपने 6 मई के पत्र के दूसरे-तीसरे पैराग्राफ में अपनी बात स्पष्ट कर दी है।

जनाब, आप फिर गलतबयानी करते हुए गलत आरोप लगा रहे हैं। अपने पूर्व-पत्र के दूसरे-तीसरे पैराग्राफ में सैद्धान्तिक तौर पर **'बिगुल'** के घोषित उद्देश्य से आप दिखावटी सहमति जाहिर करते हैं और मजदूर आंदोलन के लिए ऐसे अखबार की जरूरत भी बताते हैं, पर आपके खयाल से (आंदोलन के स्तर और जरूरत का खयाल किये बिना आंदोलन की आवश्यकताओं से बेमेल सामग्री लादने रहने के कारण) **'बिगुल' अपने घोषित उद्देश्यों को ही पूरा नहीं करता।** आन्दोलन की आवश्यकताएं क्या हैं और **बिगुल** की सामग्री बेमेल कैसे है? आप ही के उक्त पत्र में *(बिगुल,जून-जुलाई '99,पृ.5,चौथाकालम,पहलापैरा)* आगे स्पष्टत: यह कहने की कोशिश की गई है कि मजदूर आंदोलन में समाजवाद के सीधे-सीधे प्रचार की गुंजाइश तब बहुत बढ़ जाती है जब समाजवादी बातों की ग्राह्यता बहुत अधिक होती है, जबकि भारत में आज इसके एकदम विपरीत स्थिति है... आदि-आदि। इसी पैराग्राफ में आपने हमारे ऊपर स्थान-काल की अनदेखी का आरोप लगाते हुए **लेनिन** का उद्धरण देते हुए यह भी कहा है कि रूस में आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में (और आपके खयाल से भारत का मजदूर आंदोलन चूंकि बहुत पीछे हटा है अत: प्रारंभिक अवस्थाओं में जा पहुंचा है!) कम्युनिस्टों को प्राय: सांस्कृतिक कार्यों और आर्थिक कार्यों में ही जुटे रहना पड़ता था। आपके पत्र के इस हिस्से से क्या यह बात एकदम साफ नहीं है कि आप आज के भारतीय मजदूर आंदोलन में ''समाजवादी बातों'' के सीधे-सीधे प्रचार के खिलाफ हैं, क्योंकि उनकी ग्राह्यता घट गई है और यह कि आप आज सांस्कृतिक-आर्थिक कार्यों पर जोर की बात जैसा कुछ कहना चाहते हैं? तब क्या **'बिगुल'** के घोषित उद्देश्य से पत्र के शुरू में दिखाई गई आपकी सहमति फर्जी नहीं है?

दिलचस्प बात तो यह है कि ठोस हवालों-उदाहरणों से आपने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया है कि **'बिगुल'** में मजदूर वर्ग के बीच सर्वहारा क्रान्ति, सर्वहारा वर्ग की पार्टी की अनिवार्यता और सर्वहारा क्रान्ति की विचारधारा के प्रचार के लिए जिस तरीके की सामग्री दी जाती है, वह मजदूर आंदोलन की आज की जरूरतों से बेमेल कहां और किस प्रकार है? **'बिगुल'** की 'फाइल' के आधार पर यदि छपने वाली सामग्री का प्रवर्गीकरण किया जाये तो मोटे तौर पर इतने प्रवर्ग दीखते हैं : • विश्व पूंजीवाद आज दुनिया के विभिन्न हिस्सों में आर्थिक लूट और दमन का जो कुचक्र रच रहा है, उसपर विशिष्ट घटनाओं-प्रसंगों के संदर्भ में संक्षिप्त चर्चा • दुनिया के पैमाने पर और हमारे देश के पैमाने पर उदारीकरण-निजीकरण की नीतियां सर्वहारा वर्ग पर और पूरी जनता पर जो कहर बरपा कर रही हैं, उनकी सामान्य और विशिष्ट चर्चा • विश्व पूंजीवाद के तथा भारतीय पूंजीवाद के संकट की और क्रान्तिकारी विकल्प की चर्चा • अपने देश की बुर्जुआ राजनीति और अहम नीतियों-फैसलों की चर्चा, मजदूर वर्ग को उसके फौरी तथा दूरगामी कार्यभारों की याद दिलाना तथा इसी के जरिए राज्यसत्ता, संसद, सरकार, समाजव्यवस्था आदि के बारे में शिक्षा • देश के अलग-अलग हिस्सों में चल रहे मजदूर आंदोलनों की चर्चा-विश्लेषण के बहाने शिक्षा और प्रचार-एजिटेशन • **'बिगुल'** से जुड़े कार्यकर्ताओं से प्राप्त मजदूर आन्दोलनों और क्षेत्र-विशेष के मजदूरों की जीवन-स्थितियों पर रपटें • मजदूर पाठकों के पत्र-प्रतिक्रियाएं-सुझाव • संसद, पूंजीवादी दलों, सरकार और राज्यसत्ता का, तथा फासीवाद, अंधराष्ट्रवाद आदि प्रवृत्तियों का भण्डाफोड़ और विश्लेषण • पूंजीवादी मीडिया का भण्डाफोड़ और विश्लेषण • दक्षिणपंथी अवसरवाद, सुधारवाद, ट्रेड यूनियनवाद आदि का भण्डाफोड़-विश्लेषण • जयन्तियों-वर्षगांठों के अवसर पर मजदूर वर्ग को दुनिया की सर्वहारा क्रान्तियों, सर्वहारा शिक्षकों की महान विरासत, मजदूर आंदोलन के इतिहास से परिचित कराना • मार्क्सवादी क्लासिक्स से सरल शिक्षोपयोगी सामग्री छांटकर और सर्वहारा वर्ग के महान नेताओं के लेखन से प्रासंगिक और उपयोगी लेखों/अंशों का नियमित प्रकाशन • स्त्री प्रश्न पर सुबोध सामग्री • रचनात्मक सर्वहारा साहित्य (कविताएं, कहानियां आदि), • मजदूर वर्ग की विचारधारा, पार्टी और सर्वहारा क्रान्ति की अपरिहार्यता के बारे में वैचारिक लेख व टिप्पणियां ... आदि-आदि।

यह एक संक्षिप्त खाका है। हमारी कोशिश इसी फ्रेमवर्क के जरिए मजदूर वर्ग तक विचारधारात्मक-राजनीतिक सामग्री पहुंचाने की होती है। हां, यह तय है कि **अखबार घोषित तौर पर मार्क्सवादी है,** पर सीधे-सीधे विचारधारात्मक सामग्री देने का काम इसके कुछ एक स्तम्भों द्वारा ही होता है। यह भी तय है कि अखबार **मुख्यत** : उन्नत चेतना के मजदूरों को और **गौणत:** उससे नीचे के दरमियाने या औसत चेतना के मजदूरों को संबोधित करता है। इस अखबार के सहारे शिक्षित कार्यकर्ता व उन्नत मजदूर मुंहजबानी प्रचार, गेट मीटिंगों, जनसम्पर्कों, पर्चों, छोटी-छोटी पुस्तिकाओं आदि के द्वारा औसत और निम्न चेतना के मजदूरों को शिक्षित करते हैं तथा इस प्रक्रिया में अपनी सांगठनिक कुशलता विकसित करते हैं। अखबार से जुड़े ऐसे कार्यकर्ताओं तथा उन्नत मजदूरों के बीच से विकसित कार्यकर्ताओं का विकसित होता हुआ तानाबाना पार्टी-निर्माण की इमारत खड़ी करने में निर्माणाधीन इमारतों के इर्दगिर्द खड़े बल्लियों के ढांचे (लेनिन द्वारा निरूपित रूपक) का काम करे—यह हमारा बोध रहा है। इसमें हमारी सफलता-असफलता और सीमाएं क्या रही हैं, यह एक अलग चर्चा का विषय है।

हम कहना यह चाहते हैं कि आप यदि ठोस उदाहरणों से यह बता पाते कि हम मजदूर आंदोलन की साम्प्रतिक आवश्यकताओं से बेमेल सामग्री किस रूप में दे रहे हैं, तब शायद आपकी ठोस आलोचना हमें ''सुधारने'' में कोई ठोस भूमिका भी निभा पाती। पर अमूर्त, बिना किसी आधार के की जाने वाली बातों से यह उद्देश्य पूरा नहीं होता। हां, इसी प्रक्रिया में मजदूर अखबार के स्वरूप, भूमिका आदि के बारे में आपके जो तर्क सामने आते हैं, उनमें हमें खतरनाक किस्म के भटकाव नजर आते हैं।

एक बार फिर 'प्रोपेगैण्डा'/'एजिटेशन' का प्रश्न, एक बार फिर 'इस्क्रा' 'प्राव्दा' के उदाहरणों से सम्बन्धित विवाद

आपने अपने पहले पत्र में सवाल यह उठाया था कि **'बिगुल'** भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का मुखपत्र है या यह एक 'मास पोलिटिकल पेपर' है? अब आप कह रहे हैं कि आपका आशय यह था कि **'बिगुल'** का पाठक-समूह कौन है? यही तो हमारा कहना है कि आपका प्रश्न आपका आशय नहीं स्पष्ट कर रहा था बल्कि यह दर्शाता था कि *'पार्टी-ऑर्गन्स'* के स्वरूप और *'मासपोलिटिकलपेपर'* के बारे में आप स्पष्ट नहीं हैं। इसीलिए हमने यह जरूरी समझा कि अलग-अलग प्रकृति के पार्टी-आर्गन्स के सन्दर्भ में इतिहास के हवाले से संक्षिप्त चर्चा करते हुए अपनी बात स्पष्ट करें। लेकिन आपको फिर बुरा लग गया है और आपने हमारे ऊपर **''तरह-तरह के आर्गन पर एक लम्बा व्याख्यान दे डालने''** का आरोप लगाते हुए हमारी **''मौलिक प्रस्थापनाओं''** को (बिना उनका खण्डन या आलोचना किये) स्वीकारने से इनकार कर दिया है। ''सदाशयता'' दिखाते हुए आपने बहस संचालित करने के लिए अपनी ओर से कोई प्रस्थापना देने से इनकार कर दिया है, और **'प्रोपेगैण्डा-एजिटेशन'** के बारे में **लेनिन** की ही दी हुई परिभाषा को आधार बनाने का हमसे अनुरोध करते हुए **'क्या करें'** पुस्तक (पृ. 91) से उद्धरण दिया है।

अफसोस यह है कि हम आपके इस अनुरोध को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि आपने जो उद्धरण दिया है वह हमारी बहस के संदर्भ में सर्वथा अप्रासंगिक है और जहां आपने इस उद्धरण को छोड़ा है, उसका अगला ही वाक्य इस उद्धरण की अप्रासंगिकता और आपकी चालाकी को साफ कर देता है। **'क्या करें'** (पृ. 91) से उद्धृत अंश को आप अपने ''मन लायक अंश'' पर अपना जोर लगाते हुए इस वाक्य पर छोड़ देते हैं : ''...इस घोर अन्याय के विरुद्ध आंदोलनकर्ता जनता में असंतोष और गुस्सा पैदा करने की कोशिश करेगा तथा इस अंतरविरोध का और पूर्ण स्पष्टीकरण करने का काम वह प्रचारक के लिए छोड़ देगा।'' हम इसके ठीक आगे का महज एक वाक्य और उद्धृत कर रहे हैं, ''अतएव प्रचारक मुख्यतया **छपी हुई** सामग्री का उपयोग करता है और आंदोलनकर्ता **जीवित** शब्दों का प्रयोग करता है।'' *(जोरस्वयंलेनिनका)*

लेकिन एजिटेशनल अखबार तो **जीवित शब्द** नहीं, **छपी हुई सामग्री** होता है! जाहिर है, **लेनिन** यहां एक विशेष संदर्भ में 'प्रोपेगैण्डिस्ट' और 'एजिटेटर' संगठनकर्ताओं की विशिष्टताओं की चर्चा कर रहे हैं। इन्हें हूबहू उठाकर 'प्रोपेगैण्डा ऑर्गन' और 'एजिटेशनल ऑर्गन' पर चस्पां कर देना और फिर निहायत अनुकरणवादी ढंग से उन मानकों को लागू करने की जिद पकड़ लेना शायद कठमुल्लावादी मूर्खता होगा। एक 'एजिटेटर' अपने भाषण में जिस अन्तरविरोध पर लोगों के सामने **बस एक विचार** रखने का काम करेगा, उसपर एक 'एजिटेशनल पेपर' भी महज इतना ही नहीं करेगा। ''**जीवित शब्द**'' नहीं एक अखबार है जो सीमित हद तक विश्लेषण भी प्रस्तुत ही करेगा।

(पृष्ठ 7 पर जारी)

(पृष्ठ 6 से आगे)

चूंकि 'बिगुल' "व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक" की भूमिका की बात करता है अत: आपका कहना है कि *"जिसदिन बिगुल व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षा और प्रचार को अपने उद्देश्य व जिम्मेदारी के बतौर गिनाना बन्द कर देगा, उस दिन हम 'बिगुल 'से वे अपेक्षाएं रखना बंद कर देंगे जो एक 'मास पोलिटिकल पेपर 'से रखी जाती हैं।"* आगे 'बिगुल' को (स्वघोषित उद्देश्य के हिसाब से) 'प्राव्दा' जैसे पत्र की श्रेणी में रखते हुए आप लिखते हैं कि *"'इस्क्रा 'का पाठक समूह कहीं से भी 'व्यापक मेहनतकश आबादी' नहीं थी। व्यापक मेहनतकश आबादी को 'एजिटेट 'करना कहीं से भी 'इस्क्रा 'की मूल जिम्मेदारी नहीं थी।"* आपके कई मूल विभ्रमों की जड़ इसी प्रसंग में है। पहली बात तो यह कि जब हम 'बिगुल' के स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह **"व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा"** और यह कि **"बिगुल मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आंदोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा"** तो हम यहां 'बिगुल' के पाठक समुदाय की बात नहीं कर रहे हैं। व्यापक मेहनतकश अवाम के हर 'क्रॉस-सेक्शन' के बीच ऐसा कोई भी अखबार सीधे-सीधे शिक्षक, प्रचारक, आह्वानकर्ता, संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता के रूप में नहीं जाता। ऐसा अखबार संगठनकर्ताओं की टोली के माध्यम से और मजदूरों के उन्नत संस्तरों तक पहुंचकर फिर उनके जरिए ही व्यापक मेहनतकश आबादी तक अपनी बात पहुंचा पाता है और व्यापक मेहनतकश अवाम को 'एजिटेट' करने का काम कर पाता है। यह बात हमारी अपनी मौलिक खोज नहीं बल्कि लेनिन की ही मूल प्रस्थापना है और पहले भी 'बिगुल' के पन्नों पर एकाधिक बार स्पष्ट की जा चुकी है।

आपने हमारे मुंह में अपनी बातें ठूंसने के लिए क्या-क्या कारस्तानियां की हैं, इसका एक उदाहरण देखिए। आपने लिखा है कि हमने 'प्राव्दा' और 'इस्क्रा' दोनों को 'एजिटेशनल' अखबार बताया है और यह स्थापना दी है कि दोनों एक ही तरह के अखबार थे। जबकि हमने स्पष्टत: लिखा है कि **"'इस्क्रा' भी बोल्शेविकों का मूलत: 'एजिटेशनल' या एक हद तक 'एजिट-प्रॉप' श्रेणी का 'आर्गन' ही था।"** 'इस्क्रा' और 'प्राव्दा' के फर्क के बारे में आपने कई तरह से, बार-बार हमारी बातों को तोड़ा-मरोड़ा है। अत: इस मसले पर हम अपनी बात फिर से स्पष्ट करना जरूरी समझते हैं।

पहली बात तो यह कि एजिटेशन/प्रोपेगैण्डा और पार्टी ऑर्गन्स के बारे में लम्बा भाषण देने का आरोप हमारे ऊपर मत लगाइये। 'इस्क्रा', 'प्राव्दा' के उदाहरणों की शुरुआत आपने की है तो फिर हमें अपनी बात स्पष्ट करने की इजाजत तो आपको देनी ही चाहिए। **दूसरी बात**, हमने बार-बार स्पष्ट किया है कि दोनों प्रकार के ऑर्गन्स के बीच और उनके कार्यभारों के बीच कोई चीन की दीवार नहीं होती, पर आप हमारे ऊपर श्रेणी-विभाजन प्रेमी होने का आरोप थोप रहे हैं, जिसके कि आप स्वयं बुरी तरह शिकार हैं।

समग्र रूप में, **लेनिन** का यह कहना सही है कि "कम्युनिस्ट अखबार को हमारा सर्वोत्तम आंदोलनकर्ता (एजिटेटर) और सर्वहारा क्रान्ति का नेतृत्वकारी प्रचारक बनना चाहिए।" पर इसका मतलब यह नहीं कि सभी कम्युनिस्ट अखबार बराबर-बराबर 'एजिटेटर' और 'प्रोपेगैण्डिस्ट' होते हैं। फिर भी मुख्य पहलू के हिसाब से श्रेणी-निर्धारण होता ही रहा है। रूस में भी हुआ था। 'इस्क्रा' और 'जार्या' या 'प्राव्दा' और 'ज्वेज्दा' के बीच के फर्क को तो आप भी स्वीकार करेंगे।

जब बोध के धरातल पर एक अखिल रूसी पार्टी अखबार के रूप में 'इस्क्रा' के प्रकाशन की बात हुई थी तो उसका स्वरूप मूलत: 'एजिटेशनल' ही तय हुआ था और 'जार्या' का मूलत: 'प्रोपेगैण्डा।' यह आप भी मानते हैं। बाद की परिस्थितियों में 'इस्क्रा' का जो स्वरूप बना वह एक 'एजिट-प्राप' ऑर्गन का था। पर यह स्थितियों की बात थी, न कि '**कहां से शुरुआत करें**' और '**क्या करें**' में प्रस्तुत बोध की गलती थी। 'इस्क्रा' के टारगेट रीडर ग्रुप कम्युनिस्ट और उन्नत मजदूर ('मजदूर बौद्धिक') थे, पर उनके माध्यम से 'इस्क्रा' व्यापक मेहनतकश आबादी के शिक्षक-प्रचारक की तथा संगठनकर्ता-आंदोलनकर्ता की ऐतिहासिक भूमिका निभा रहा था। चूंकि ठोस स्थितियों में 'जार्या' के कम ही अंक (तीन अंक) निकले, अत: 'इस्क्रा' की भूमिका 'प्रोपेगैण्डा' और 'पालिमिक्स' चलाने की भी बनी, पर वह साथ-साथ अपनी पूर्वनिर्धारित भूमिका का भी निर्वाह करता रहा। यानी, जैसा कि हमने पहले स्पष्ट किया है, 'इस्क्रा' का चरित्र कुल मिलाकर 'एजिट-प्रॉप' प्रकृति के ऑर्गन के रूप में सामने आया।

जब 'प्राव्दा' का प्रकाशन शुरू हुआ तो रूस में कम्युनिस्ट आंदोलन एक उन्नत मंजिल में पहुंच चुका था। पार्टी-निर्माण व पार्टी-गठन का कार्य बहुत आगे की मंजिल में पहुंच चुका था। मेंशेविकों से पीछा छुड़ाकर बोल्शेविक अपनी अलग पार्टी बना चुके थे। मजदूरों की भारी आबादी कम्युनिस्टों की तरफ आकृष्ट हो चुकी थी। 'इस्क्रा काल' की अपेक्षा मजदूरों के तीनों संस्तरों की चेतना जगी हुई और उठान की स्थिति में थी तथा उन्नत और औसत संस्तर के मजदूरों की संख्या भी बहुत अधिक हो चुकी थी। तब एक ऐसे पत्र की जरूरत थी जो मुख्यत: उन्नत और फिर औसत चेतना के मेहनतकशों को सम्बोधित करते हुए भी जगी हुई मेहनतकश आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से तक पहुंचे। 'प्राव्दा' ने इसी काम को अंजाम दिया। इसलिए वह आदर्श रूप में एक 'मास पोलिटिकल पेपर' (एजिटेशनल ऑर्गन) के रूप में दिखाई पड़ता है। पर हम यहां एक बार फिर लेनिन के उस प्रसिद्ध उद्धरण की याद दिलाना चाहते हैं जिसमें उन्होंने 'प्राव्दा' को सड़क चलते उन लाखों आम मजदूरों को लिए, "जो अभी आन्दोलन के दायरे में नहीं खिंच पाये हैं", "बहुत मंहगा, बहुत कठिन और बहुत बड़ा" बताया है और उनके लिए सस्ता, छोटा और व्यापक सर्कुलेशन वाला '**वेचेर्नाया प्राव्दा**' प्रकाशित करने की बात की है। आप हमारे इस हवाले को एकदम गोल कर गये हैं और लम्बे उद्धरण के जरिए न जाने क्या सिद्ध करने के लिए 'प्राव्दा' की स्थापना और भूमिका की गाथा सुनाने लगे हैं।

आपका कहना है कि **बिगुल** 'व्यापक मेहनतकश आबादी' के बीच शिक्षक-प्रचारक की अपनी स्वघोषित भूमिका के हिसाब से एक 'मास पोलिटिकल पेपर' है और इसकी भूमिका 'प्राव्दा' जैसी होनी चाहिए और इसके ऊपर **लेनिन** के उस लेख की बात लागू नहीं होती जिसमें उन्होंने मजदूर अखबार का मुख्य 'टारगेट रीडर ग्रुप' उन्नत संस्तर के मजदूर को माना है। **लेनिन** की वह बात '**इस्क्रा**' जैसे पत्र पर ही लागू होती है।

हम जो बताने की कोशिश कर रहे हैं वह यह कि आप बलपूर्वक मनमाने मानक निर्धारित करके '**बिगुल**' पर '**प्राव्दा**' का फ्रेम थोप रहे हैं। **यूं तो ऐतिहासिक दौरों के बीच की तुलना भी हर तुलना की तरह लंगड़ी होती है**, पर फिर भी जिस हद तक तुलना संभव है, उस हद तक करने पर यही कहा जा सकता है कि भारत का क्रान्तिकारी वामपंथी आंदोलन आज वैसे ही कार्यभारों के दौर में है जैसा कि '**इस्क्रा**' के दौर में था। किसी भी तरह से हम वैसे दौर में नहीं हैं, जो '**प्राव्दा**' का दौर था। स्वयं आप ही के लम्बे उद्धरण में '**प्राव्दा**' के जिस चरित्र और उसके जिन कामों की चर्चा है, वे किसी भी तरह से आज हमारे सामने नहीं हैं। आज कुछ वैसे ही कार्यभार जरूर हमारे सामने हैं जिन्हें अंजाम देने के लिए '**इस्क्रा**' जैसे एक अखबार की योजना **लेनिन** ने प्रस्तुत की थी। पर कोई भी तुलना इतनी हूबहू नहीं होती कि किसी चीज की नकल करने की कोशिश की जाये। **इतिहास से बोध और धारणा के धरातल पर सीखा जा सकता है न कि अंधानुकरण किया जाता है।** आज हमारे देश में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच गंभीर सैद्धान्तिक-वैचारिक बहस चलाने के लिए और उन्नत संगठनकर्ताओं को सामग्री मुहैया कराने वाले मंच (आर्गन्स) भी मौजूद हैं और ऐसे पत्र निकालने की स्थितियां भी हैं—कानूनी भी व इसके विपरीत भी। अत: '**इस्क्रा**' को पूर्व निर्धारित स्वरूप से अलग जितने काम हाथ में लेने पड़े थे, उतना, जरूरी नहीं कि आज भी लेना पड़े। '**बिगुल**' को 'मास पोलिटिकल पेपर' कहने का यह अर्थ लेना यांत्रिकता होगी कि यह व्यापक औसत चेतना के मजदूरों को मुख्यत: संबोधित हो। 'मास पोलिटिकल पेपर' एक ढीला शब्द है। '**बिगुल**' इन अर्थों में 'मास पोलिटिकल पेपर' है कि इसमें ऐसी सामग्री भी रहती है और पर्याप्त रहती है, जिसके बारे में बताकर कार्यकर्तागण इसे कारखाना गेटों, मजदूर इलाकों, रेलों-बसों आदि में बेच लेते हैं और फैक्ट्री संबंधी आर्थिक भण्डाफोड़ से लेकर देश की बुर्जुआ राजनीति तक के भण्डाफोड़ व आन्दोलनों की रपटों को औसत चेतना वाले पढ़े-लिखे मजदूर भी दिलचस्पी के साथ पढ़ते हैं और शिक्षित होते हैं। पर उन्हीं अंकों में कुछ ऐसे भण्डाफोड़-विषयक लेख और ऐसे विश्लेषण या ऐसे सरल सैद्धान्तिक लेख भी होते हैं जो उन्नत चेतना वाले मजदूरों और आम कम्युनिस्ट कतारों के लिए होते हैं और जो मजदूर अध्ययन मण्डलों में चर्चा और विमर्श के लिए सामग्री और दिशा मुहैया करने का काम करते हैं।

हालांकि अपनी सीमाओं-क्षमताओं के अपरिहार्य दबावों के चलते '**बिगुल**' का भी जो स्वरूप बना है वह 'एजिट-प्रॉप' प्रकृति का है, पर इसका मुख्य पहलू एक 'एजिटेशनल ऑर्गन' का ही है जो सर्वोपरि तौर पर अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों को (और कम्युनिस्ट कतारों को) संबोधित करता है और फिर मुख्यत: उनके माध्यम से व्यापक मेहनतकश आबादी को 'एजिटेट' करता है, शिक्षित करता है।

'टारगेट रीडर ग्रुप' का सवाल बनाम व्यापक मेहनतकश आबादी के शिक्षक होने का सवाल : एक काल्पनिक विसंगति —एक दिग्भ्रमित समझ

'**क्या राजनीति देते समय अखबार को पाठक-समूह की चेतना का खयाल रखना चाहिए?**'—इस उपशीर्षक के अंतर्गत नसीहत देते हुए आप लिखते हैं—"**बिगुल** की समस्या यह है कि एक ओर तो **बिगुल** अपना 'टारगेट रीडर ग्रुप' **व्यापक मेहनतकश** आबादी को मानता है, दूसरी ओर अपने सम्पादकीय या अपने जवाब में '**बिगुल**' के सम्पादक, अखबार का 'टारगेट रीडर ग्रुप' अग्रणी **वर्ग-सचेत मजदूरों** को परिभाषित करते हैं। यह एक विसंगतिपूर्ण अवस्थिति है।"

साथी, **विसंगति हमारी अवस्थिति की नहीं आपकी समझ की है।** आपकी समस्या यह है कि आप समझते हैं कि एक ऐसा अखबार सिर्फ अपने 'टारगेट रीडर ग्रुप' का ही शिक्षक होता है, या सिर्फ उसी के बीच प्रचारक-संगठनकर्ता की भूमिका निभाता है। 'टारगेट रीडर ग्रुप' का निर्धारण और व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच भूमिका—दोनों दो चीजें हैं। जैसा कि हमने स्पष्ट किया है, आज के दौर में ऐसे एक अखबार का 'टारगेट रीडर' सबसे पहले उन्नत चेतना वाले मजदूरों का अग्रणी संस्तर ही है (उसके बाद एक हद तक औसत चेतना के मजदूरों का दूसरा संस्तर भी होगा)। फिर ऐसे किसी अखबार की राजनीति उन्नत चेतना वाले अग्रणी मजदूरों और कार्यकर्ताओं के माध्यम से—भाषणों, मुंहामुंही प्रचारों, पर्चों, नारों आदि में ढलकर व्यापक मजदूर आबादी तक पहुंचती है। इस रूप में ऐसा एक मजदूर अखबार व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच शिक्षक-प्रचारक की भूमिका निभाने लगता है। '**बिगुल**' के पन्नों पर हम पहले भी इस लेनिनवादी धारणा को स्पष्ट कर चुके हैं कि मजदूर वर्ग का राजनीतिक अखबार संगठनकर्ता की भूमिका निभाता है संगठनकर्ता के जरिए, आन्दोलनकर्ता की भूमिका निभाता है आंदोलनकर्ता के जरिए और प्रचारक की भूमिका निभाता है प्रचारक के जरिए।

1999 का भारतीय मजदूर आन्दोलन 1899 के रूसी मजदूर आन्दोलन से आगे है या पीछे, इस मसले को छोड़ भी दें या यह भी मान लें कि पीछे है, तो भी इसमें उन्नत चेतना वाले मजदूरों का एक संस्तर, औसत चेतना के मजदूरों का दूसरा संस्तर और निम्न चेतना के मजदूरों का निचला संस्तर अवश्य ही होगा; चाहे इन संस्तरों की चेतना लेनिन द्वारा बताये गये 1899 के रूसी मजदूरों के उपरोक्त तीनों संस्तरों की चेतना से क्रमश: भले ही मेल न खाती हो। पर **लेनिन** की इतनी बात जरूर हर हाल में यहां भी लागू होती है कि मजदूरों का जो उन्नत संस्तर समाजवाद के विचारों को अपेक्षाकृत अधिक तेजी के साथ और अधिक आसानी के साथ अपनाता है, उसे ही मजदूर वर्ग के बीच विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार, शिक्षा, भण्डाफोड़ और एजिटेशन की कार्रवाई चलाने वाला कोई भी मजदूर अखबार अपना प्रमुख 'टारगेट रीडर ग्रुप' बनायेगा और फिर उनके माध्यम से व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच राजनीतिक शिक्षक-प्रचारक की भूमिका निभायेगा।

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए आप हमारी एक और "विसंगति" की ओर इंगित करते हैं। आपके अनुसार, हम इसे एक क्रान्तिकारी धड़े का अखबार बताते हैं जबकि '**बिगुल**' के वितरक साथी इसे '**बिगुल मजदूर दस्ता**' का अखबार बताते हैं। और इससे आप नतीजा निकालते हैं कि यह *"जनसंगठनकीचेतनाकेस्तरकाअखबार'"* है और हम *"पार्टीकीचेतनाकाअखबार"* कहकर घालमेल कर रहे हैं। क्या खूब तर्क है! यानी आप अखबार के चरित्र का फैसला वितरक साथी के शब्दों से करते हैं, अखबार पढ़कर नहीं। आप खण्डन-मण्डन का अंधा बना देने वाला जोश त्यागकर जरा सोचिये। यदि कोई 'एजिटेशनल' (या 'एजिट-प्रॉप') प्रकृति का कानूनी अखबार अघोषित 'आर्गन' के तौर पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के किसी धड़े की ओर से निकाला जाये तो सड़क पर उसका पूरा परिचय क्यों और किस रूप में दिया जाना चाहिए? आप जैसे समझदार साथियों को अखबार की प्रकृति का फैसला अखबार की राजनीति की दिशा के आधार पर करना चाहिए न कि वितरकों का "इंटरव्यू" लेकर। बहस के इस प्लेटफार्म की जो सीमा है, उसकी याद दिलाते हुए यहां हम आपकी दिवालिया समझ और कुतर्क के बारे में बस इतना ही इंगित कर सकते हैं। वैसे आप यहां भी तथ्यों को तोड़-मरोड़ रहे हैं। हमारी जानकारी के मुताबिक, हमारे वितरक साथी यह स्पष्ट बताते हैं कि यह अखबार अमुक-अमुक उद्देश्यों-जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए निकलता है और इसे वे लोग निकालते-छापते-बांटते हैं जो इन उद्देश्यों-कार्यभारों के बाबत एकमत हैं। '**बिगुल**' के प्रचारकों-वितरकों-संवाददाताओं के दस्तों को '**बिगुल मजदूर दस्ता**' कहा जाता है। बहरहाल, **बिगुल** की कई प्रतियां उत्साह और वर्ग-भावना वश कितने आम और औसत चेतना के मजदूर भी अपने कारखानों-बस्तियों में बांटने ले जाते हैं और वे यदि इसे '**बिगुल मजदूर दस्ता**' का 'आर्गन' भी बता दें तो इससे कुछ तय नहीं होता। दूसरे, आप जब यह कहते हैं कि हम '**बिगुल**' को "**पार्टी की चेतना का अखबार**" कहते हैं तो फिर अंधेरगर्दी मचाते हुए हमारे मुंह में अपनी मनमानी बात ठूंसते हैं। **हमने बिगुल को मजदूर आबादी के लिए निकाला जाने वाला क्रान्तिकारी राजनीतिक अखबार कहा है जो 'एजिटेशनल' या 'एजिट-प्रॉप' प्रकृति का 'आर्गन' है, जिसका स्वरूप एक हद तक एक 'मास पोलिटिकल पेपर' का है और जो मुख्यत: वर्ग-सचेत, उन्नत राजनीतिक चेतना वाले मजदूरों को संबोधित है।** किसी पार्टी या ग्रुप की ओर से उन्नत मजदूरों व आम कतारों के लिए निकाले जाने वाले अखबार को आप "**पार्टी की चेतना का अखबार**" जान-बूझकर कह रहे हैं या मूर्खतावश, यह तो आप ही जानें!

और आप यहां भी नहीं रुकते। आपका तर्क चरम भोंडेपन के शिखर पर पहुंचकर ही दम लेता है। आगे आप फर्माते हैं कि **"'बिगुल' के वितरक साथी 'बिगुल' को केवल अग्रणी वर्ग सचेत मजदूरों को देने के बदले हर आम मजदूर को पकड़ा देते हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं जो 'बिगुल' में प्रयुक्त मार्क्सवादी शब्दावली के 90 प्रतिशत से अनभिज्ञ होते हैं, उसमें कही गई बातों की तो बात ही क्या की जाये?"** आप हमारी मजबूरी क्यों नहीं समझते? हमारे पास दरअसल आप वाली वो जादुई ऐनक नहीं है जिसे नाक पर टिकाकर घर बैठे या मजदूर की शक्ल देखते ही आप उसकी चेतना का स्तर नाप लेते हैं। हम तो हर जगह सामने पड़ने वाले मजदूरों को अखबार के बारे में बताकर अखबार खरीदने के लिए कहते हैं, यह जानते हुए भी कि सभी पूरा '**बिगुल**' नहीं पढ़ते और कुछ तो एकदम नहीं पढ़ते। पर इसी प्रक्रिया में '**बिगुल**' उन्नत चेतना वाले कुछ थोड़े-से मजदूरों तक भी पहुंच जाता है और कुछ उनसे थोड़ा नीचे, थोड़ा-बहुत पढ़-समझ लेने वाले औसत मजदूरों तक भी। बहुतेरे ऐसे मजदूर साथी हैं जो '**बिगुल**' से जुड़े कार्यकर्ताओं की सहायता से '**बिगुल**' पढ़ते हैं। दूसरी बात यह कि आपने '**बिगुल**' में प्रयुक्त मार्क्सवादी शब्दावली का जो हौव्वा खड़ा किया है, वह भी आपकी मनोगत धारणा है। आंदोलनों की रपटें-विश्लेषण, बुर्जुआ राजनीति-कानून-मीडिया या फैक्ट्री की स्थितियों के भण्डाफोड़ '**बिगुल**' में जिस भाषा में छपते हैं और मजदूर साथियों के जो पत्र छपते हैं—उन्हें बड़े पैमाने पर मजदूर पढ़ते हैं और प्रतिक्रिया देते हैं। मार्क्सवादी क्लासिक्स से हम जो सामग्री देते हैं या क्रान्ति की समस्याओं पर जो लेख देते हैं, वह '**बिगुल**' का एक छोटा हिस्सा होता है और उसमें जरूर जटिल मार्क्सवादी शब्दावली भी होती है। आम रपटों-लेखों में विवरण के साथ जो मार्क्सवादी राजनीतिक शब्दावली आती है, उन्हें मजदूर पाठक अपने अनुभव के आधार पर समझते हैं और एक क्रमिक प्रक्रिया में शिक्षित होते जाते हैं।

यहां **पहला मुद्दा** यह याद रखने का है कि अखबार सबसे पहले उन्नत चेतना वाले मजदूर को संबोधित है और **दूसरी बात** यह समझने की है कि अखबार का काम सिर्फ अपने पाठक की चेतना तक नीचे उतरना या उसके पीछे चलना नहीं बल्कि थोड़ा नीचे उतरकर (सम्प्रेषण की दृष्टि से) फिर पाठक की चेतना को ऊपर उठाना होता है।

हमारा खयाल है कि '**किसके लिए**' के सवाल पर हम काफी साफ हैं। यह तो आपकी फितरत है कि कभी अमूर्त किताबी मानकों के सहारे तो कभी भौंडे अंधानुकरणवाद के सहारे अपनी बातें कहने की कोशिश कर रहे हैं और यह भी स्पष्ट नहीं कर पा रहे हैं कि आप कहना क्या चाह रहे हैं। जो आप कहते हैं उसे स्वयं ही काट दे रहे हैं या जो कहना चाह रहे हैं, कह नहीं पा रहे हैं। आपकी मनोगतता का ही एक सबूत यह भी है कि हमारे "हिरावलपंथ" की इतनी आलोचना कर चुकने के बाद आप अब हमसे 'बिगुल' की फाइल मांग रहे हैं ताकि और ठोस अध्ययन करके हमारी "मदद" कर सकें। ऐसी मदद करने वालों से खुदा बचाये! हमारी नेक सलाह है कि आप पहले अपनी खुद की मदद करें, वर्ना शायद खुदा भी आपकी मदद नहीं कर सकता।

पार्टी निर्माण व पार्टी गठन के बारे में आपकी "अचूक" द्वंद्ववादी समझ!!

पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में हमारी "**गैर द्वंद्वात्मक समझ**" को बेनकाब करते हुए वास्तव में आपने अपनी "द्वंद्वात्मक समझ" की ही अनूठी बानगी पेश की है।

हमेशा की तरह यहां भी शुरुआत आप हमारी बातों को तोड़ने-मरोड़ने से करते हैं। आपने 'बिगुल', जून-जुलाई '99 अंक में पृष्ठ 5 पर दूसरे-तीसरे पैराग्राफ में **पार्टी निर्माण व पार्टी गठन** के बारे में प्रस्तुत हमारी बातों को दो लाइन के इस "ज्यामितीय समीकरण" में अद्भुत प्रतिभाशाली ढंग से समेट दिया है :

प्रचारक→ जार्या ज्वेदा→ पार्टी गठन

आंदोलनकर्ता→ इस्क्रा प्राव्दा→ पार्टी निर्माण

इसके द्वारा आपने साबित कर दिया है कि हम किस हद तक गैर द्वंद्वात्मक हैं और श्रेणी-विभाजन प्रेमी हैं। आपने अपना उपरोक्त भयंकर मजाकिया नतीजा हमारे मुंह में ठूंसने के लिए "**प्रधानत:**" और "**मुख्यत:**" जैसे हमारे द्वारा प्रयुक्त सभी विशेषणों को उड़ा दिया है तथा पार्टी-निर्माण व गठन के पहलुओं की अविभाज्य द्वंद्वात्मकता के बारे में बार-बार कही गई हमारी बातों को पहले ही खिल्ली उड़ाकर खारिज कर दिया है। **पर आपने लगे हाथों पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन के बारे में अपने घोर सामाजिक जनवादी बोध एवं धारणा को भी एकदम नंगा कर दिया है।**

हम अपनी 'पोजीशन' एक बार फिर स्पष्ट करेंगे और तब आपकी 'पोजीशन' की चर्चा करेंगे। बोल्शेविज्म के सांगठनिक उसूलों की हमारी समझ के हिसाब से, **एक क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी का बनना और विकास करना एक सतत् जारी प्रक्रिया है और पार्टी गठन तथा पार्टी निर्माण उसके दो पहलू हैं।**

कुछ लोग विचारधारा की अपनी समझ के आधार पर जब देश-विशेष को परिस्थितियों की एक समझ बनाते हैं, कामों की एक आम दिशा तय करते हैं और मान लीजिए कि एक छोटा-मोटा ग्रुप का ढांचा बनाकर काम शुरू करते हैं, तो **वे पार्टी खड़ी करने की दिशा में आगे बढ़ते हुए पार्टी-गठन की प्रक्रिया को अंजाम दे रहे होते हैं।** लेकिन यह जो प्रारम्भिक ढांचा खड़ा होता है, यह एक वास्तविक क्रान्तिकारी सर्वहारा ढांचा तभी बन सकता है जब वह ग्रुप सामाजिक प्रयोगों में दिशा की अपनी समझ को ठोस रूप देने व सत्यापित करने का काम करे, बुनियादी वर्गों को संगठित करते हुए लाइन को विकसित करे, बुनियादी वर्गों को संगठित करते हुए लाइन को विकसित करे, बुनियादी वर्गों के बीच से पार्टी-भरती करे, जन संगठनों में संगठन की कोशिकाओं का जाल बिछाते हुए आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों की प्रक्रिया में अपनी लाइन को सत्यापित-विकसित करे तथा अपने कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करे एवं मांजे-तपाये। **यह हुआ पार्टी खड़ी करने की दिशा में आगे बढ़ते हुए पार्टी-निर्माण की प्रक्रिया को अंजाम देना, जो पार्टी गठन की प्रक्रिया के साथ-साथ चलती है।**

क्रमश: उन्नत सामाजिक प्रयोगों के साथ-साथ, उसी के आधार पर (यानी पार्टी निर्माण के पहलू की मजबूती के आधार पर) किसी एक ग्रुप या संगठन की राजनीतिक लाइन विकसित होती है, अन्य बिरादर कम्युनिस्ट ग्रुपों-संगठनों से 'पालिमिक्स' की क्रिया (सामाजिक प्रयोगों के साथ-साथ) जारी रहती है। जिसका एक **फैसलाकुन मुकाम तब आता है जब विचारधारात्मक-राजनीतिक- सांगठनिक लाइन की एकता के आधार पर, देश-विशेष के स्तर पर एक एकीकृत सर्वहारा पार्टी अस्तित्व में आ जाती है।**

पर सही मायनों में एक सर्वहारा चरित्र की पार्टी **तभी खड़ी हो सकती है**, जब कि सही लाइन के साथ-साथ

(पृष्ठ 8 पर जारी)

(पृष्ठ 7 से आगे)

नेतृत्व और कतारों का 'कंपोजीशन' भी सही हो और यह कभी हो सकता है जब उपरोक्त वर्णित प्रक्रिया के साथ-साथ बुनियादी वर्गों के बीच क्रान्तिकारी प्रयोगों के दौरान पार्टी के सर्वहारा क्रान्तिकारी चरित्र के सुदृढ़ीकरण का—उसके नेतृत्व और कतारों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण व सुदृढ़ीकरण का—काम लगातार जारी रहा हो तथा सर्वहारा वर्ग व अन्य बुनियादी वर्गों के बीच प्रचार-शिक्षा-आंदोलन व संगठन का काम करते हुए उनके बीच से बड़े पैमाने पर, लगातार, पार्टी-भरती की गई हो। **यह पार्टी-निर्माण का पहलू है, जिसके कमजोर होने पर यदि कोई एकीकृत सर्वहारा पार्टी गठित भी हो जाये तो वह एक कमजोर चरित्र वाली पार्टी होगी। जो कालांतर में अपना रंग भी बदल सकती है।**

जाहिर है कि पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण की दोनों साथ-साथ जारी, अन्तर्सम्बन्धित प्रक्रियाओं में जोर कभी एक पहलू पर अधिक होता है, तो कभी दूसरे पर अधिक होता है, पर दोनों साथ-साथ ही चलती हैं।

जब आप चकित होकर पूछते हैं कि **जो पार्टी अभी गठित ही नहीं हुई, उसके निर्माण का सवाल कहां से पैदा हो गया?—तो आपका सामाजिक-जनवादी बोध एकदम अवक्षेपित होकर सतह पर उतरा आता है।** आपके खयाल से जब पार्टी गठन का काम (यानी देश स्तर पर एक एकीकृत पार्टी बनने का काम) हो जाता है तभी पार्टी-निर्माण का काम (यानी सामाजिक प्रयोगों में उतरकर तपने-निखरने का काम) शुरू होता है। हूबहू यही सोच कभी हम लोगों के कुछ सहयात्रियों ने प्रस्तुत की थी जिन्होंने 1989 में एक अलग राह पकड़ ली और अब सामाजिक-जनवादी रास्ते पर काफी दूर निकल गये हैं। ऐसी कोई भी पार्टी जो गठन के काम को पूरा करने के बाद ही निर्माण का काम शुरू करती है, वह केवल बुद्धिजीवियों की पार्टी—केवल एक "पैस्सिव रैडिकल" पार्टी ही हो सकती है। **लेनिन** और उनके सहयोगी मार्क्सवाद के आधार पर अपने देश की स्थितियों की एक प्रारंभिक समझ के आधार पर जब मजदूरों के अध्ययन-मण्डलों के रूप में शुरुआती ढांचे खड़ा कर रहे थे—तो उनके काम का **यह पहलू पार्टी-गठन का काम था।** साथ ही वे मजदूरों के बीच से कम्युनिस्ट तैयार कर रहे थे, हड़ताली पर्चे लिख रहे थे और मजदूरों के संघर्षों में भागीदारी करते हुए नेतृत्व को और कार्यकर्ताओं को तपा-निखार रहे थे—**यह पहलू पार्टी-निर्माण का पहलू था। लाइन पर चलने वाली सैद्धान्तिक बहसों का पहलू पार्टी-गठन का पहलू था और उसी से जुड़ा हुआ, सही लाइन को सत्यापित करने वाला सामाजिक प्रयोगों का पहलू पार्टी-निर्माण का पहलू था।**

जिस तरह से आप यह समझते हैं कि पार्टी-गठन का काम हो जाने के बाद ही पार्टी-निर्माण का काम शुरू हो पाता है, उसी तरह आप यह समझते हैं कि जब एक बार देश स्तर पर एक पार्टी गठित हो जाती है तो फिर पार्टी-गठन का काम पूरा हो जाता है और आप हमसे पूछते हैं कि "हमारी ही दी हुई परिभाषा के अनुसार," जब पार्टी का गठन पहले ही हो चुका था तो **'ज्वेज्दा'** जैसा पत्र क्या कर रहा था जो कि एक प्रचारक पत्र था और पार्टी-गठन के कार्य से जुड़ा था।

'ज्वेज्दा' जैसे पत्र की भूमिका पर चर्चा तो आगे करेंगे, पहले पार्टी-गठन विषयक आपके भ्रान्त बोध पर चर्चा की जाये। **जब देश-स्तर पर एक पार्टी गठित हो जाती है, उसके बाद भी एक पार्टी जबतक वर्ग-संघर्ष में रहती है तबतक वह किसी न किसी रूप में विश्रृंखलित और पुनर्गठित होती रहती है।** पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष 'पालिमिक्स' के रूप में लगातार चलता रहता है और पूरी तरह उभर चुके, लाइलाज गैरसर्वहारा तत्वों को—पार्टी के भीतर के बुर्जुआ तत्वों को—समय-समय पर अलग करके पार्टी एक तरह से अपना पुनर्गठन करती रहती है। यह पार्टी-गठन की वह क्रिया है जो पार्टी के गठित हो जाने के बाद भी जारी रहती है—यहां तक कि राज्यसत्ता हाथ में आने के बाद भी, जैसे कि **व्रात्स्की** के गिरोह को अलग करके **स्तालिन काल में बोल्शेविक पार्टी** ने और **सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** के दौरान पूंजीवादी पथगामियों को शिकस्त देकर **चीनी पार्टी** ने अपने को नये धरातल पर फिर से गठित किया।

जब हम अलग-अलग कोटि के 'पार्टी-ऑर्गन्स' की बात पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण के सम्बन्ध में कर रहे थे तो बार-बार याद दिला रहे थे कि इन्हें रूढ़ श्रेणियों में बांटकर देखने के बजाय एक या दूसरे पहलू की प्रधानता के रूप में देखा जाना चाहिए। फिर भी आपने उलटकर हमारे ऊपर ही श्रेणी-विभाजन प्रेमी का आरोप लगा दिया है।

एक 'प्रोपेगैण्डा ऑर्गन' भी संगठन की उन्नत कतारों में लाइन की समझ देकर उन्हें सामाजिक प्रयोगों के लिए तैयार करता है अत: वह भी पार्टी-निर्माण के कार्यभार को अंजाम देता है, पर चूंकि इस कोटि के ऑर्गन **मुख्यत:** विचारधारा, राजनीति और स्थितियों के गंभीर विश्लेषण और 'पालिमिक्स' के काम को अंजाम देते हैं, अत: वे **मुख्यत:** पार्टी-गठन के पहलू से जुड़ते हैं। दूसरी ओर, 'एजिटेशनल आर्गन' **मुख्यत:** संगठन की लाइन को कतारों और उन्नत मजदूरों तक पहुंचाकर उन्हें सामाजिक प्रयोगों में उतरने के लिए तैयार करते हैं तथा उनके जरिए आम जनता तक कार्यभारों की समझ पहुंचाकर उसे सक्रिय करते हैं, अत: जिनका जुड़ाव **मुख्यत:** पार्टी-निर्माण के पहलू से होता है। ध्यान रखिये कि फिर हमारी बात का जवाब देते हुए **मुख्यत:** विशेषण को उड़ाकर आप हमारी बात का विकृतिकरण मत कर दीजियेगा।

शुरू में जब **'जार्या'** और **'इस्क्रा'** की योजना क्रमश: एक 'प्रोपेगैण्डा' और 'एजिटेशनल आर्गन' के रूप में बनी थी तो उनके द्वारा पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण के कार्यभारों को इसी रूप में अंजाम दिया जाना था। पर परिस्थितियां ऐसी रहीं कि **'जार्या'** के महज तीन ही अंक निकल सके और 'प्रोपेगैण्डा-पालिमिक्स' के एक मंच के रूप में भी **'इस्क्रा'** की महत्वपूर्ण भूमिका के नाते उसका स्वरूप एक **'एजिट-प्रॉप ऑर्गन'** का बना और उसकी भूमिका पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन के दोनों कामों में बनी। अगले दौर में **'ज्वेज्दा'** जैसे पत्र का काम **मुख्यत:** लाइन के प्रश्न पर गंभीर व्याख्या-विश्लेषण व पालिमिक्स का बना जो कि उस दौर में **मुख्यत:** पार्टी-गठन के कार्यभार से जुड़ता था। **'प्राव्दा'** की भी इस काम में महत्वपूर्ण भूमिका थी, फिर भी एक 'एजिटेशनल आर्गन' (पार्टी के 'मास पोलिटिकल पेपर') के रूप में वह **मुख्यत:** आम कतारों व उन्नत मजदूरों तक **'ज्वेज्दा'** के कार्यक्रम को पहुंचा रहा था और फिर उनके माध्यम से व्यापक मेहनतकश आबादी को वर्ग संघर्ष के लिए जागृत-संगठित कर रहा था, अत: उसका कार्यभार **मुख्यत:** पार्टी-निर्माण के पहलू से जुड़ा हुआ था। अंत में फिर आपसे अनुरोध कर दें कि हम यहां इन पत्रों के कार्यभारों के मुख्य पहलू की बात कर रहे हैं न कि कोई रूढ़ श्रेणीबद्ध सूत्रीकरण पेश कर रहे हैं, अत: मॉडलों के अंधानुकरण की अपनी प्रवृत्ति के चलते फिर कोई "ज्यामितीय सूत्रीकरण" हमारे ऊपर मत थोप दीजियेगा।

पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन के बारे में आपका बोध और धारणा पूरी तरह सामाजिक जनवादी हैं। आपने सही कहा है कि यहां सवाल जनदिशा का सवाल है और यहां भी यही बात सामने आती है कि आप की जनदिशा की समझ भी सामाजिक जनवादी है।

आप 1899 के रूस के नहीं 1999 के भारत के 'क्रीडो' मतावलम्बी हैं!

हमने आपको **1999 के भारत का 'क्रीडो' मतावलम्बी** कहा है और आपका कहना है कि आरोप लगाने का हमारा तरीका सतही, छिछला और ओझों-सोखों जैसा है। इसके बाद आपने 'क्रीडो' मत के छ: "चारित्रिक लक्षणों" का उल्लेख **लेनिन** के ऐतिहासिक लेख **'ए प्रोटेस्ट बाइ रशियन सोशल डेमोक्रैट्स'** के आधार पर किया है और हमें "चुनौती" दी है कि हम आपके भीतर उन छ: "चारित्रिक लक्षणों" को ढूंढ़ निकालें। लेकिन हम ऐसा मूर्खतापूर्ण आग्रह पूरा नहीं करेंगे।

आपने 'क्रीडो मत' की चारित्रिक अभिलाक्षणिकता नहीं, 'क्रीडो' मत के अर्थवाद की छ: प्रमुख अभिव्यक्तियों की चर्चा की है। सर्वहारा आंदोलन में जब कोई भी विजातीय प्रवृत्ति या धारा बार-बार सिर उठाती है तो उसकी अभिव्यक्तियां, यहां तक कि कुछ गौण चारित्रिक लक्षण भी बदल जाते हैं। हां, उनकी सारवस्तु वही रहती है। जैसे खुश्चेव को "काउत्स्की का चेला" और "काउत्स्कीपंथी" कहा गया, पर उसके संशोधनवाद के रूप व अभिव्यक्तियां हूबहू काउत्स्की जैसी ही नहीं थीं। ऐसा हो भी नहीं सकता।

निस्संदेह आप "क्रीडो मतावलम्बी" ही हैं पर 1899 के रूस के नहीं बल्कि **1999 के भारत के क्रीडो मतावलम्बी हैं।** आपने 'क्रीडो' मत के अभिव्यक्तियों की चर्चा की है, गत उत्तर में हमने भी एक हवाले से उसके सारतत्व की चर्चा की थी। आप द्वारा उल्लिखित अभिव्यक्तियों से भी 'क्रीडो' मत का वही सारतत्व आसवित होता है जिसकी चर्चा हमने अपने पिछले प्रत्युत्तर में की है। "(क्रीडो) घोषणापत्र रूसी अर्थवाद के अवसरवाद की सर्वाधिक मुखर अभिव्यक्ति थी" *(लेनिन:कलेक्टेडवर्क्स,खण्ड9,पादटिप्पणी सं.-37)* **लेनिन** ने ही अन्यत्र 'क्रीडो' मत को इस रूप में याद किया है: **"बर्नस्टीनपंथियों के "क्रीडो" की याद कीजिए। "शुद्ध सर्वहारा वर्गीय" विचारों तथा कार्यक्रमों से लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला: हम सामाजिक जनवादियों को केवल आर्थिक सवालों से, मजदूरों के वास्तविक हेतु से, हर प्रकार की राजनैतिक तिकड़मों की आलोचना करने की स्वतंत्रता से, सामाजिक जनवादी काम को सचमुच अधिक गहरा बनाने से सरोकार रखना चाहिए।"** *(लेनिन:जनवादीक्रान्तिमेंसामाजिकजनवादकीदो कार्यनीतियां,पृ.101 प्रगतिप्र.,1969संस्करण,जोरहमारा)।*

इसी सारवस्तुगत समानता की दृष्टि से हमने आपको आज के भारतीय क्रान्तिकारी वामपंथी शिविर का 'क्रीडो मतावलम्बी' कहा है। आपका सीधे-सीधे कहना है कि मजदूर आंदोलन में समाजवाद का सीधे-सीधे प्रचार तब किया जाना चाहिए जब समाजवादी बातों की ग्राह्यता (Receptivity) बहुत अधिक हो। आपका मानना है कि आज पीछे हट रहे भारत के मजदूर आंदोलन में समाजवाद के बजाय प्रतिक्रियावादी विचारों का माहौल है। आप आज के वर्तमान हालात के हिसाब से प्रचार और कार्रवाई का आग्रह करते हुए **लेनिन** का एक उद्धरण (संदर्भों से काटकर) देते हैं कि आंदोलन के प्रारंभिक अवस्थाओं में रूसी कम्युनिस्टों को प्राय: एक तरह के सांस्कृतिक कार्यों और आर्थिक कार्यों में ही जुटे रहना पड़ता था। आपने उस उद्धरण के जरिए यह कहने की कोशिश की है कि पीछे हटता हुआ भारतीय मजदूर आंदोलन चूंकि आज "प्रारंभिक अवस्थाओं" में जा पहुंचा है, अत: हमें भी सम्प्रति केवल आर्थिक व सांस्कृतिक कार्यों तक सीमित रहना चाहिए। आप या तो यह कहना चाहते हैं कि आज भारत में उन्नत चेतना का मजदूर है ही नहीं, या फिर यह कहना चाहते हैं कि "व्यापक मेहनतकश आबादी" के बीच शिक्षक-प्रचारक होने की बात करने के नाते **'बिगुल'** जैसे 'मास पोलिटिकल पेपर' को औसत मजदूरों को संबोधित होना चाहिए न कि मुख्यत: उन्नत चेतना के मजदूरों को। ये सारी बातें आपने खासकर, 'बिगुल', जून-जुलाई '99 अंक में प्रकाशित अपने विगत पत्र में, पृष्ठ 5 पर अंतिम कालम के दोनों पैराग्राफों में कही हैं। साथ ही अवसरवाद के तकाजों से प्रेरित होकर आप अपने विगत पत्र के शुरू में ही यह सहमति भी जताते हैं कि मजदूर वर्ग के बीच विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार का काम सीधे-सीधे किया जा सकता है। जब आपका ध्यान इस विसंगति की ओर दिलाया जाता है तो आप बिना किसी ठोस साक्ष्य के कहने लगते हैं कि **'बिगुल'** इस काम को जनता की चेतना का खयाल किये बिना कर रहा है। **पर असलियत यह है कि आप मजदूरों में समाजवाद के विचार के प्रचार के ही हामी नहीं हैं क्योंकि आपके विचार से आज भारतीय मजदूर आंदोलन में समाजवाद की ग्राह्यता नहीं है बल्कि प्रतिक्रियावादी विचारों का माहौल है।**

आपके यही विचार आपको **"1999 के भारत का 'क्रीडो' मतावलम्बी"** सिद्ध करते हैं। 'क्रीडो' मतावलंबियों का अर्थवाद अपने ठीक बाद रूस में जन्मे अर्थवाद की अन्य प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक भोंडा और नंगा था। आज भारत के क्रान्तिकारी शिविर में कुछ और भी अर्थवादी प्रवृत्तियां-रुझानें मौजूद हैं, उनकी तुलना में आपकी अर्थवादी अवसरवादी प्रवृत्ति भोंड़ी है। इसीलिए हमने आपको "1999 के भारत का क्रीडो मतावलम्बी" कहा है।

अखबार में नामों के प्रयोग का सवाल और 'व्यक्तिवाद' के खिलाफ प्राणप्रण से सन्नद्ध "वकील साहब" की कुछ और दलीलें

अखबार में नामों के प्रयोग के सवाल पर आप अपने 'स्टैण्ड' के पक्ष में तर्कों को जितना ही खींचते जा रहे हैं, उनका भोंड़ापन उतना ही उजागर होता जा रहा है।

अखबार में नाम से लेख न देने के पीछे आपका मूल तर्क यह था कि इससे व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिलता है। हमारा यह कहना था कि व्यक्तिवाद के खिलाफ लड़ाई का यह पेटी-बुर्जुआ नुस्खा वैसा ही है जैसा लोहियावादी कभी नाम से टाइटिल हटाकर जातिवाद खतम कर रहे थे। दुनिया की अन्य पार्टियां पार्टी-नामों से, छद्म नामों से और गुमनाम लिखने की जो परिपार्टी चलाती रही हैं, उसके पीछे का कारण व्यक्तिवाद से संघर्ष नहीं बताया गया है बल्कि यह राज्यसत्ता के विरुद्ध क्रान्तिकारी पार्टियों की समग्र कार्य-प्रणाली का एक अंग रहा है। इसके साथ ही हमने यह भी याद दिलाया है कि कई देशों में वर्ग-संघर्ष की ठोस स्थितियों के हिसाब से पार्टी नेतागण अपने मूल नाम से भी लिखते और काम करते रहे हैं। फिर भी यदि आप अपने हास्यास्पद सूत्रीकरण पर अड़े हुए हैं तो हमें कुछ नहीं कहना।

आप फिर यह कहकर हमारी बातों को तोड़-मरोड़ रहे हैं कि हमारा कहना है कि भूमिगत कार्यकर्ताओं को छोड़कर शेष लेखकों के नाम दिये जाने चाहिए। हमने यह कहा है कि नाम से लिखने-न-लिखने का सवाल पार्टी की समग्र क्रान्तिकारी कार्यशैली का एक अंग है। खुला काम करने वाला व्यक्ति भी छद्म नाम से लिख सकता है और किन्हीं स्थितियों में भूमिगत कार्यकर्ता भी नाम से पार्टी-लेखन कर सकता है। आप गुमनाम लेखन को भूमिगत जीवन की जरूरत बताते हैं; यह अनिवार्य नहीं है। आप इसे लेखक की मानसिक सेहत के लिए जरूरी मानते हैं। यह आपका नीमहकीमी मनोवैज्ञानिक नुस्खा हो सकता है, विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के नेताओं की यह शिक्षा नहीं रही है। **हमारा आग्रह नाम से लिखने के सवाल पर नहीं है, यह हमारे पत्र-पत्रिकाओं से भी जाहिर है। हमारी आपत्ति आपके उस तर्क पर है जो आपने गुमनाम लेखन के पक्ष में दी है।**

राजनीतिक लाइन पर चौकसी बरतने की राजनीतिक समस्या का आपने जो नायाब तकनीकी सुझाव बताया है, उसमें कार्यकर्ताओं की राजनीतिक चेतना की नहीं बल्कि एक कापी और एक ताला-चाबी की जरूरत है। यहां एक बार फिर आप साबित करते हैं कि आप कार्यकर्ताओं को docile tool (आज्ञाधीन उपकरण) समझते हैं और सही राजनीतिक पद्धति को कमान में रखने के बजाय तकनीकी समाधानों के जरिये काम करने के हामी हैं। आपके खयाल से, लाइन पर चौकसी बरतने का काम सिर्फ सम्पादक मण्डल या पार्टी-नेतृत्व करता है, न कि पार्टी-कतारें।

आगे आप हमसे दो नायाब सवाल पूछते हैं। आप पूछते हैं कि क्या अनुवाद में भी कोई लाइन होती है। आपकी समझ बढ़ाते हुए हम यह आम जानकारी दे दें कि बिल्कुल होती है। आपको जानना चाहिए कि संशोधनवादी पार्टियों व लेखकों ने मार्क्स के समय से लेकर आज तक मार्क्सवादी रचनाओं के अनुवादों के विकृतिकरण के जरिए और संकलनों के सामग्री-चयन तक में अपनी लाइन चलाई है। यह एक विस्तृत और दिलचस्प चर्चा का विषय है, पर यहां इसकी दरकार नहीं है।

आपका दूसरा सवाल यह है कि **'बिगुल'** के जिन साथियों के असली नाम अबतक **'बिगुल'** में छपे हैं, क्या उनका भूमिगत जीवन समाप्त हो गया है? या तो आप एक सच्चे राजनीतिक नौदौलतिये हैं जिसे तौर-तरीके-परम्पराओं की कोई जानकारी नहीं है या फिर आप एक गलत प्लेटफार्म पर विध्वंसात्मक नीयत से यह सवाल उठा रहे हैं। फिलहाल हम पहली बात ही मानकर चल रहे हैं और मौजूदा प्लेटफार्म की सीमाओं का खयाल करते हुए आपको बता रहे हैं कि भूमिगत और खुला राजनीतिक जीवन काम करने की स्थायी स्थितियां नहीं होतीं। क्रान्तिकारी संगठनकर्ता स्थिति व आवश्यकतानुसार खुले व भूमिगत होते रहे हैं। खुला हो जाने से भूमिगत जीवन सदा-सर्वदा के लिए समाप्त नहीं हो जाता। दूसरे, भूमिगत व्यक्ति भी नाम से, किन्हीं स्थितियों में लिख सकता है। यहां हम इतना ही कह सकते हैं। अब आप तैरना सीखे बगैर धारा में छपाका मार गये हैं तो उसकी तकनीक सिखाना हमारा काम नहीं है। और वैसे भी आपको जरूरत नहीं है। आप तो पानी में कूदने के बाद तैरने की अपनी तकनीक गढ़ रहे हैं।

"न पूछते हुए भी" आप एक सवाल और पूछते हैं कि जो लेख, लेखक के बजाय किसी और नाम से छपते हैं उनमें लाइन की गलती की जिम्मेदारी किसकी होगी? वकीलाना तर्क की घुट्टी पिये आप जैसे व्यक्ति को बस यही उत्तर दिया जा सकता है कि यह जिम्मेदारी लिखने वाले व्यक्ति की होती है, क्योंकि किसी भी स्तर पर संगठन में जब ऐसा होता है तो वह संगठन के भीतरी कोर की जानकारी में होता है। आपको पता है कि नवीं कांग्रेस की जो रिपोर्ट **लिन प्याओ** ने पढ़ी थी, वह उसकी नहीं थी। उसकी संशोधनवादी रिपोर्ट रद्द करके **माओ** ने दूसरी रिपोर्ट तैयार कराई थी। लिन प्याओ के पतन और मृत्यु के बाद यह तथ्य पार्टी के बाहर जाहिर कर दिया गया था।

पर आपके इन सभी तर्कों का उत्तर हमने इसलिए दिया है कि आपकी वकीलाना बुद्धि को भी तसल्ली हो जाये और आप समझ जायें कि यह मामला सतही तकनीकी तिकड़म का नहीं बल्कि सही सच्ची बोल्शेविक कार्य शैली का है। हमारी मूलभूत आपत्ति आपके उस तर्क पर थी जो आपने गुमनाम लेखन के लिए दी थी, वर्ना यह आपका अधिकार है कि आप अपने संगठन में क्या पद्धति चलायें। हां, इतना जरूर है कि अललटप्पू तर्क गढ़ने के बजाय सांगठनिक कार्य शैली के प्रश्न पर इतिहास की विरासत, परम्पराओं और तर्कों से पहले परिचित हो लिया जाये।

मजदूर आंदोलन की तुलना का सवाल

जहां तक 1899 के रूसी मजदूर आंदोलन और 1999 के मजदूर आंदोलन में मजदूरों की चेतना की दृष्टि से तुलना का प्रश्न है, हमारा बुनियादी तर्क वही हैं जो हमने **'बिगुल'** के जून-जुलाई '99 अंक के पृ. आठ पर तीसरे-चौथे-पांचवे पैराग्राफ में दिये हैं।

पहली बात तो यह कि ऐसी कोई तुलना आम तौर पर की ही नहीं जा सकती। यह यांत्रिक आधिभौतिक पद्धति होगी।

दूसरी बात यह कि विश्वव्यापी विपर्यय और देशस्तर पर क्रान्तिकारी शक्तियों के लम्बे बिखराव से मजदूर वर्ग में आई पस्ती का यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि उसकी चेतना 1947 के पहले के भारतीय मजदूर वर्ग से या कि 1899 के रूसी मजदूर वर्ग से भी पीछे चली गई है।

तीसरी बात यह कि भारतीय मजदूर वर्ग में प्रतिक्रियावादी माहौल का प्रभाव यथार्थ का सिर्फ एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि वह "समाजवाद" का झण्डा उड़ाते अर्थवादियों-संशोधनवादियों को काफी हद तक समझ और त्याग चुका है और **क्रान्तिकारी विचारधारा के प्रचार को सुनने-ग्रहण करने के लिए आज पहले हमेशा से अधिक तैयार है।** वस्तुगत स्थितियों का विकास आने वाले दिनों में मेहनतकश अवाम पर विनाश का जो कहर बरपा करने वाला है, उसके विरुद्ध व्यापक उभार अवश्यंभावी है। देश के अलग-अलग कोनों में छिटपुट लगातार चल रहे स्वयंस्फूर्त संघर्ष आने वाले दिनों के पूर्व संकेत हैं। हमें इस स्वयंस्फूर्तता से न तो आंख मूंदनी चाहिए न ही इसकी पूजा करनी चाहिए, बल्कि इससे आवश्यक नतीजे निकालने चाहिए। यही समय है जब तबाही के कगार पर खड़े मजदूरों के रोजमर्रे की लड़ाइयों में शामिल होते हुए उनके बीच राजनीतिक-वैचारिक शिक्षा एवं प्रचार के काम को तथा कार्यों को पूरा जोर लगाकर शुरू कर दिया जाये। यही सवाल आज हमारे सामने भी किसी न किसी रूप में मौजूद है कि **क्या हम जीतने का साहस कर सकते हैं?**

इसी संदर्भ में जब हमने **लेनिन** के हवाले से 1898 से शुरू हुए तीसरे काल को रूसी मजदूर आंदोलन के फूट, विसर्जन और ढुलमुलपन का काल कहा है तो जाहिरा तौर पर हम सामाजिक जनवादी आंदोलन (कम्युनिस्ट आंदोलन) की ही बात कर रहे हैं। यह बात आगे के विवरण से भी जाहिर है जहां हमने 1904 में मेंशेविक अवसरवाद को निर्णायक शिकस्त देने और 1905-07 की रूसी क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार होने की बात कही है। आपका कहना है कि हमने 'सामाजिक जनवादी आंदोलन' की जगह 'रूसी मजदूर आंदोलन' लिखकर ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बलात्कार किया है। आपको शायद पता नहीं कि मार्क्सवादी साहित्य में अलग संदर्भ में सामाजिक जनवादी (कम्युनिस्ट) आंदोलन के लिए भी 'मजदूर आंदोलन' शब्दावली का प्रयोग हुआ है। जिस चीज को लेनिन ने मजदूर आंदोलन कहा है, उसे 'मजदूरों का स्वयंस्फूर्त आंदोलन' या उनका 'स्वयंस्फूर्त उभार' भी कहा जाता रहा है। दूर क्यों जाते हैं। 1983 में भारतीय क्रान्ति की प्रकृति, स्वरूप व समस्याओं पर प्रकाशित सर्वज्ञात दस्तावेज में भी तो, 'कम्युनिस्ट आंदोलन' की जगह 'मजदूर आंदोलन' शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

हमारा मूल तर्क यह है कि यदि हम यह मान भी लें कि 1999 के भारतीय मजदूर आंदोलन में समाजवादी बातों की ग्राह्यता 1899 के रूसी मजदूर आंदोलन से बहुत कम है, तब भी इससे यह तय नहीं होता कि आज यहां मजदूर वर्ग के बीच सीधे राजनीतिक-विचारधारात्मक प्रचार के लिए एक राजनीतिक अखबार नहीं निकाला जाना चाहिए, और केवल आर्थिक आन्दोलन के कामों में ही जुटे रहना चाहिए। इस संबंध में अपनी बातें हम विस्तार से पहले ही कह चुके हैं।

साथी, बहस के परिधिगत मुद्दों को खींचते जाने की वकीलाना तर्क-प्रणाली के चलते आप इसे 'बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप' के बहाने आज के लिए जरूरी मजदूर अखबार के स्वरूप पर जारी चर्चा से लगातार काफी दूर खींच लाये हैं। हमारा आग्रह है कि हमने अखबार के स्वरूप पर बहस शुरू करते हुए और लेनिन के एक लेख का हिस्सा छापते हुए उसके हवाले से **'बिगुल'** के अप्रैल '99 अंक में जो

(पृष्ठ 2 पर जारी)